

क महायान का विकास

ये चौरासी सिद्ध जिस वज्रयान सम्प्रदाय के अनुयायी थे, वह कोई अलग सम्प्रदाय न होकर बौद्ध धर्म की महायान शाखा का ही विकसित रूप था। इसके कई प्रमाण मिलते हैं। सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि सर्वमान्य वज्रयानी सिद्धान्त ग्रन्थों में कई स्थानों पर महायान का उल्लेख है। त्रिसमय राज की साधना में 'अनया मन्त्री महायान परिहीयते', ऐसा उल्लेख मिलता है।^१ इसी प्रकार भगवती वज्रतारा की साधना में भी महायान का उल्लेख मिलता है जिसमें त्रिरत्नों में से धर्म को समग्र महायान का वाचक बताया गया है और उसी के प्रसंग में वज्रयान का भी उल्लेख है।^२ इससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'बौद्ध तन्त्र साधना महायान की ही शाखा थी और वज्रयान महायान का पूर्वाधिकार स्वीकार करता है।'^३ वज्रयान का, महायान के ही परिणित रूप होने का एक और भी स्पष्ट अन्तरंग प्रमाण 'वज्र-गर्भ-तन्त्र-राजसूत्र' में मिलता है।^४ इस ग्रन्थ में दक्षिण भारत के किसी सम्राट वीर्यदत्त का उल्लेख है 'जो श्रद्धायुक्त तथा गहन विश्वासी प्रकृति का था। उसने प्रसन्नता से अनुत्तर धर्म की शिक्षा ली और वज्र महायान में दीक्षित हो गया'।^५ इस उद्धरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वज्रयान वास्तव में महायान की ही वह परवर्ती प्रणाली थी जिसमें तन्त्रिक प्रवृत्तियाँ प्रविष्ट हो गई थी। महायान का विकास बौद्ध धर्म के अन्तर्गत ईसा की पहली शताब्दी के लगभग माना जाता है। वैडेल^६ तथा कीथ^७ दोनों ने महायान के प्रथम विकास का यही समय स्वीकार किया है। यदि भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण की तिथि ४८६ ई० पू० में मानी जाय।^८ तो भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण के लग-

भग ४०० वर्ष बाद महायान अंकुरित हुआ। बुद्ध ने अपने समय में ही अन्ध धार्मिक विश्वास को प्रोत्साहन न देकर तर्क-परम्परा और विचारशीलता का समर्थन किया था। तत्त्व-संग्रह में भगवान बुद्ध ने कहा था—‘परीक्ष्य भिक्षुवो ग्राह्यम् मद्बचो न तु गौरवात्।’^{१८} ‘भिक्षुओं को स्वतः परीक्षा करने के उपरान्त मेरे वचनों को ग्रहण करना चाहिये, केवल मेरे गौरव से आतंकित होकर नहीं।’ जिस धर्म में इतना विचार-स्वातंत्र्य हो उसमें विभिन्न सम्प्रदायों तथा साधनाओं और विचार-पद्धतियों का विकसित होना सर्वथा स्वाभाविक है।

महायान की विचार तथा साधना-पद्धति की मूल प्रेरणा यह थी कि बौद्ध धर्म की कठिन और दुस्साध्य जीवन-पद्धति को अधिक लोकपरक और सहज बनाया जाय।^{१९} इस प्रवृत्तिमूलक साधना-पद्धति पर उनका महायान के विकास की मूल प्रेरणा इतना आग्रह होने का प्रमुख कारण यह था कि उनकी चिन्तना का केन्द्र केवल व्यक्ति तथा उसका निर्वाण नहीं था, वे लोकहित तथा समस्त लोक की मुक्ति के लिये उत्तरदायित्व का अनुभव करते थे।

इस सम्बन्ध में अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की कथा बड़ी रोचक तथा महत्वपूर्ण है। जब अवलोकितेश्वर ने निर्वाण प्राप्त कर लिया और वह अनन्त शून्य में लीन होने जा रहा था तभी उसने सुमेरु पर्वत के शिखर से कोई दूरागत क्रन्दन का स्वर सुना और वह बहुत उदास हो गया। वह गहन चिन्तना में लीन होगया और तब उसे यह ज्ञान हुआ कि यह क्रन्दन और कुछ नहीं है महाकरुणामय बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के अन्तर्धान होने पर लोक साधारण का परिताप है। अवलोकितेश्वर जो उनके भौतिक दुखों तथा पीड़ाओं में एकमात्र सहारा था, उसको खो देने की आशंका से वे निस्सहायावस्था में गगन-भेदी क्रन्दन कर रहे थे। यह जान कर उसका हृदय विचलित हो गया और उसने निश्चय किया कि वह अपने सुकृत पुण्यों द्वारा अर्जित निर्वाण को तब तक स्वीकार नहीं करेगा जब तक भूमि पर एक भी व्यक्ति भवजाल में बंधा रहता है।^{१९} इसी प्रकार बोधिसत्व लोक-हित के लिये प्रार्थना करते हुए कहता है, ‘मैं प्रत्येक दिशा के सभी सम्बुद्धों से बद्धकों से प्रार्थना करता हूँ कि जो ममता-बन्धन के कारण दुखजाल में आवद्ध हैं उनके लिये धर्म का दीपक प्रोज्ज्वलित करें। मैं सभी आत्मनिर्ग्रही सम्बुद्धों से आग्रह करता हूँ जो महानिर्वाण प्राप्त करने को

महायान का विकास

सबद्ध हैं कि वे असंख्य युगों तक रुके रहें, (ताकि उनके अभाव में) यह संसार तमाच्छादित न हो जाय। मैंने अपनी साधनाओं से जितने भी पुण्य अर्जित किये हैं उनसे सभी प्राणियों के सभी क्लेशों तथा तापों का परिशमन हो.....तीनों भुवनों में व्याप्त अपने सम्पूर्ण सत्व, अपने सम्पूर्ण आनन्द और अपने सम्पूर्ण पुण्यों का मैं निस्संग परित्याग करता हूँ ताकि सभी प्राणियों की कामनाएं पूर्ण हों।^{१२} इसी कारण से लोक साधारण भी अन्त में स्वतः साधना के कठिन पथ पर विशेष ध्यान न देकर बोधिसत्व की ही महत्करुणा के आकांक्षी हो रहे थे।^{१३} वे लोग जो पूर्ण विकसित नहीं थे उनके लिये भी निर्वाण का तथा क्लेश-शमन का एक सरल मार्ग निर्दिष्ट कर दिया गया था। और उस दृष्टि से बौद्ध धर्म को धीरे-धीरे साधना और अनुशासन की दृष्टि से अधिक लोकपरक बनाया जाने लगा। यहाँ तक कि अन्त में तो यह कहा जाने लगा कि यदि कोई प्रभुतारुण बुद्ध का नाम मात्र ही स्मरण कर ले तो उसे सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हो जाती है या जो सुखावती प्रणिधान मात्र करता है वह उसी को प्राप्त हो जाता है।

ऐसा नहीं है कि महायानी आचार्य वैयक्तिक पूर्णत्व या वैयक्तिक साधना-परक हीनयान का सर्वथा निषेध करते हों किन्तु वे उसे हीन कोटि की साधना मानते हैं क्योंकि उसमें करुणा का अभाव होता है।^{१४} वज्रयानी ग्रन्थों में साधनाओं की दृष्टि से तीन यान स्वीकार किये गये थे। श्रावकयान, प्रत्येकयान तथा महायान^{१५} इनमें से प्रथम दो केवल शून्यता को प्राप्त होते हैं। करुणा केवल महायान की थाती है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि महायान के विकास की मूल प्रेरणा बौद्ध-धर्म को लोक जीवन के निकट पहुँचाने और ऐसे पथ का विकास करने की थी जिसमें केवल सम्बुद्ध व्यक्ति ही नहीं वरन् समस्त लोक का कल्याण हो सके। यह प्रवृत्ति बुद्ध के बाद से ही किस प्रकार धीरे धीरे अंकुरित हुई अन्त में केवल महायान के विशाल, बहु-शाखाओं से समन्वित बटवृक्ष में परिणत हो गयी इसके लिये महायान के क्रमिक विकास पर संक्षेप में विचार कर लेना उचित होगा।

जैसा पहले ही संकेत किया जा चुका है कि भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों

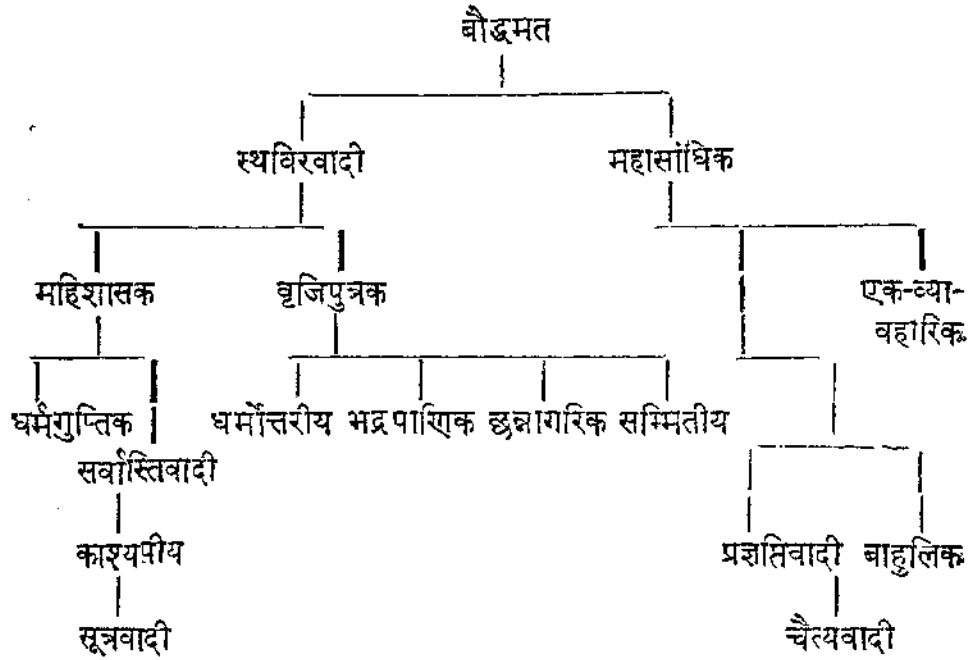
को इस बात की स्वतन्त्रता दी थी कि उनके वचनों को भी केवल उनके गौरव के आतंक से न ग्रहण करें वरन उनकी सम्यक् परीक्षा करें। महायान का विकास-क्रम उनके कुछ शिष्य उनके विभिन्न उपदेशों की अपनी वैयक्तिक व्याख्याएँ करने लगे। अतः उनकी मृत्यु के उपरान्त ही इस बात की आवश्यकता प्रतीत होने लगी कि उनके उपदेशों को ठीक रूप से वर्गीकृत और संग्रहीत किया जाय ताकि उनका रूप विकृत न हो। कहा जाता है कि महास्थविर काश्यप ने किसी सुभद्र नामक भिक्षु को बुद्ध भगवान के नाम पर विचित्र से सिद्धांतों का प्रचार करते हुये देखा। अतः उन्होंने इस बात की आवश्यकता समझी कि सभी अर्थों को बुला कर प्रवर्तक के उपदेशों को संग्रहीत कर लिया जाय। महाराज विम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने उसकी संरक्षता ग्रहण की और राजगृह के निकट की पर्वतशृङ्खलाओं में सत्पत्नी की गुफा में ४६६ अर्थों की प्रथम 'संगीति' बैठी। उस संगीति में भगवान बुद्ध के सभी उपदेशों का गायन हुआ तथा बुद्ध-कथित विनय के १० नियम उपलि द्वारा, अभिधम्म भाग काश्यप द्वारा और सुत्त भाग आनन्द द्वारा उपस्थित किया गया और क्रमशः उन्हीं को विनय-पिटक, अभिधम्म-पिटक तथा सुत्त-पिटक के नाम से संग्रहीत किया गया।^{१६}

इसके बाद बौद्ध धर्म में सहसा बुद्ध द्वारा प्रवर्तित कठोर श्रमण आचारों के विरुद्ध विद्रोह की एक लहर आई। कहा जाता है कि बुद्ध के समय में ही इन कठोर नियमों का उल्लंघन प्रारम्भ हो गया था। बहुत से स्थानों में ऐसे बौद्ध भिक्षु थे जो संघों के नियम का उल्लंघन कर पत्नियों, कन्याओं, तरुणियों और तरुण दासियों को पुष्पोपहार भेजते थे। उनके साथ आसन पर बैठते थे, मद्य पीते थे, नृत्य करते थे, गीत गाते थे और वाद्य यंत्रों का प्रयोग करते थे। भगवान बुद्ध को जब यह ज्ञात हुआ तो वे बहुत दुखी हुए।^{१७} ऐसे भिक्षुओं को लोग आदर की दृष्टि से नहीं देखते थे। किन्तु स्वयम् संघ के अन्दर बहुत से लोग ऐसे थे जो अनुभव करते थे कि संघ के नैतिक अनुशासन सम्बन्धी नियमों को और उदार बनाना चाहिये। विद्रोह का सूत्रपात वैशाली के वज्जि भिक्षुओं द्वारा हुआ और उन्होंने १० नियमों के स्थान पर १० ऐसे सिद्धान्तों का प्रचार करना प्रारम्भ किया जिनमें भिक्षुओं द्वारा सोना चाँदी आदि ग्रहण करने की व्यवस्था और कभी कभी रस आदि भी ग्रहण करने की स्वतन्त्रता थी। स्थविर यश नामक एक पश्चिम-देशीय बृद्ध भिक्षु उस समय वैशाली में ही

महायान का विकास

था। इन वज्रि भिक्षुओं के विषय में सुन कर वह स्वतः कौशाम्बी गया और वहाँ जाकर उसने इनकी जीवन-वृद्धि को स्वतः देखा। वह बहुत संतुष्ट हुआ और उसने तत्काल कुछ दूतों को भेज कर मथुरा और अवन्ति से बौद्ध प्रतिनिधि बुलवा भेजे। उसी के आमन्त्रण पर लगभग ३८६ ई० पू० में वैशाली में द्वितीय संगीति हुई। इसमें लगभग ७०० भिक्षु सम्मिलित हुए और ८ प्रतिनिधियों का मंडल एक एक कर दसों नियमों पर विस्तार से विचार करता रहा, किन्तु लगभग ८ महीने तक विचार होने के उपरान्त वे दसों नियम गृहीत माने गये, महास्थविरों की जीत हो गई। उन्होंने इनको अधर्मवादी और 'गामभिक्षु' के नाम से पुकारा। किन्तु फिर भी पूर्वीय भिक्षुओं की संख्या बहुत अधिक थी। वे महास्थविरों के निर्णय के आगे झुकने के लिये भी प्रस्तुत नहीं थे अतः उन्होंने स्थविरवादियों के केन्द्र श्रावस्ती से अलग अपना केन्द्र मगध में स्थापित किया और अपने दल का नामकरण 'महासांघिक दल' किया।^{१८}

इस संगति के बाद से बौद्धों में पूर्वी और पश्चिमी दो स्पष्ट दल हो गये और पश्चिमी दल स्थविरवादी या थेरवादी और पूर्वीय दल महासांघिकदल कहलाने लगा। धीरे-धीरे इनके अन्तर्गत भी विभिन्न मार्ग विकसित हो रहे थे। उसी बीच में मौर्य सम्राट अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकृत कर लिया था। उन्होंने अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में सन् २४२ ई० पू० के लगभग तृतीय संगीति राजपुत्र तिस्स मोग्गलि की अध्यक्षता में आमन्त्रित की जिसमें प्रायः १००० भिक्षु सम्मिलित हुए। यह सभा लगभग ८, १० महीने तक कार्य करती रही और इसमें दो विशेष कार्य सम्पन्न हुए। विनय, अभिधर्म तथा सुत्त को अन्तिम रूप दिया गया और त्रिपिटक रूप में संगृहीत किया गया।^{१९} इसके अतिरिक्त कथावस्तु नामक ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया जिसमें बौद्ध-मत के तत्कालीन १८ निकायों का उल्लेख है। इन अट्ठारह निकायों का विभाजन बुद्धवोष तथा दीपवंश के अनुसार इस प्रकार था।^{२०}



अशोक के मृत्यु के पश्चात् ही १८२ ई० पू० में पुष्परथ नामक एक सैनिक आमात्य ने वृहद्रथ की हत्या कर शुंग वंश की स्थापना की। इस वंश ने बौद्ध धर्म का निर्ममता से दमन किया और पुष्यमित्र ने तो अन्धक सम्प्रदाय किलने ही संघाराम जलवा दिये, भिक्षुओं की हत्या करा तथा महायान का दी और फलस्वरूप महासांघिक बौद्ध उत्तर भारत से भाग कर दक्षिण में आन्ध्र देश और पश्चिमोत्तर में मिलिन्द के उद्भव के आश्रय में चले गये।

आन्ध्रदेश में अशोक के समय में ही महादेव नामक भिक्षु ने बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। महादेव ने आन्ध्र देश में चैत्यशिला अथवा चैत्यवादी सम्प्रदाय की स्थापना की थी जो महासांघिक दल की ही प्रशाखा था।^{२१} यह शाखा धान्यकटक महाचैत्य के नाम पर प्रख्यात थी। उस नगर के दोनों ओर पहाड़ थे और पूर्व और पश्चिम के पर्वतों पर भिक्षुओं के दो दल रहा करते थे जिनके आधार पर यही चैत्यवादी शाखा पूर्व-शैलीय तथा अपर-शैलीय उपशाखाओं में विभाजित हो गई। धीरे-धीरे उनमें राजगिरिक तथा सिद्धार्थक दो और भी प्रभेद हो गये और ये चार प्रशाखाएं 'अन्धक निकाय' के नाम से प्रख्यात हुईं।^{२२} बुद्धघोष इनके अतिरिक्त हेमवातिक और वाजिरीय शाखाओं का भी उल्लेख करता है।^{२३} इन संप्रदायों में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का मूल रूप बहुत कुछ

महायान का विकास

बदल चुका था यहाँ तक कि वैपुल्यवादियों ने तीन ऐसे सिद्धान्त प्रचलित किये जो क्रान्तिकारी थे। उनका पहला सिद्धान्त था कि 'संघ न दान ग्रहण करता है, न उसका परिशोधन करता है। न उसे दान देने में महत्व है' उनका दूसरा सिद्धान्त था कि 'न बुद्ध ने अवतार लिया, न वे लोक में ठहरे, न उन्होंने उपदेश दिया।' उनका तीसरा सिद्धान्त था कि 'विशेष परिस्थितियों में मैथुन सर्वथा उचित है।' ^{२४} इसी वैपुल्यवादी तथा उसके आधारभूत निकाय अन्धकनिकाय से महायान का जन्म हुआ और इस प्रकार के विभिन्न उदार सम्प्रदायों के बौद्ध अपने को महायानी और दूसरों को हीनयानी कहने लगे।

ठीक-ठीक कब महायान नामकरण हुआ इसका तो कोई निर्णय विद्वान लोग नहीं कर पाये हैं किन्तु अनुमान यह किया जा सकता है कि ईसा की पहली शताब्दी में ही महायान शब्द का व्यवहार होने लगा होगा। महासांघिकों ने स्थविरों द्वारा प्रयुक्त 'अधर्मवादी' और 'पापभिक्षु' के ही प्रतिशोध में उनके मार्ग को हीनयान के नाम से पुकारना प्रारम्भ किया। ^{२५}

कनिष्क के समय में १४० ई० के लगभग ५०० भिक्षुओं की एक चतुर्थ सङ्गीति हुई और कहा यह जाता है कि इसमें बहुत से ऐसे भिक्षु सम्मिलित हुये थे जो अपने को महायान-धर्मी कहते थे। ^{२६}

महायान तथा हीनयान का एक और नामकरण है जो उसके एक महत्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डालता है। महायान को गुह्ययान तथा हीनयान को व्यक्तयान भी कहते हैं। इसका कारण यह था कि थेरवादियों द्वारा आयोजित तीनों सङ्गीतियों के विरोध में महायानी कहते थे कि कुछ गुप्त सङ्गीतियाँ स्वतः भगवान् बुद्ध ने आयोजित की थी जिनमें वे अपने अलौकिक रूप में विराजमान थे। अधिकांश महायान सूत्रों का उपदेश ऐसी ही लोकोत्तर सङ्गीतियों में हुआ जो गुह्य थीं। ^{२७} अतः इन सूत्रों पर आधारित मार्ग का नाम गुह्ययान भी पड़ गया। महायान को ही (एकयान, श्रेष्ठयान, अग्रयान, बुद्धयान, परमार्थयान, भद्रयान, बोद्धिसत्त्वयान नाम से भी अभिहित किया जाता है)। ^{२८}

बौद्ध धर्म के इस नये लोकपरक स्वरूप के लिये इसके आचार्यों के मन में बड़ा उत्साह था और वे इसको पुराने स्थविरवादी बौद्धधर्म की तुलना में महायान या बड़ी नौका कहा करते थे। उनका कथन था कि भवसागर पार जाने के लिये पुराना बौद्ध-मत हीन प्रकार की नौका है, जर्जर है किन्तु महायान श्रेष्ठ है। महायान को

महायान की
विशेष प्रवृत्तियाँ

हीनयान से श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये उन्होंने आशय, उपदेश, प्रयोग, उपस्तम्भ तथा काल की श्रेष्ठता महायान में सिद्ध की थी। वैसे तो महायान में आगे चल कर कई सम्प्रदायों का विकास हुआ और बहुत सी नई साधनाओं ने प्रवेश किया किंतु कुछ ऐसे तत्व हैं जो पूरे महायान धर्म में सामान्य रूप से पाये जाते हैं।^{२९} वे तत्व निम्नलिखित हैं :—

१. बोधिसत्त्वों में आस्था और प्रत्येक व्यक्ति में निहित उस सामर्थ्य पर आस्था जिससे वह बोधिसत्त्व की स्थिति तक पहुँच सकता है। २. लोकहित की भावना। ३. बुद्ध की लोकोत्तर सत्ता में विश्वास। ४. विभिन्न दार्शनिक प्रणालियों का प्रचार जो बुद्ध-तत्व तथा निर्वाण की लगभग वैसी ही व्याख्या देते थे जैसी ब्राह्मण वेदांतों में प्राप्त होती है। ५. महायानियों का साहित्य अधिकतर संस्कृत में है और पाली धर्म-ग्रन्थों के बाद का है। ६. प्रतिमाओं की पूजा और पूजा-विधियों तथा अनुष्ठानों का विस्तार। ७. अमिताभ बुद्ध में केवल आस्था मात्र रखने से ही निर्वाण प्राप्ति का विधान और इसी लक्ष्य से उसका नाम-जप।

उस समय तक पिछले समस्त सम्प्रदाय चार मुख्य दार्शनिक सम्प्रदाय में अन्तर्भुक्त हो गये थे। सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक तथा विज्ञानवाद (योगा-चार)।^{३०} ह्वेनसाँग भी इन्हीं चारों का उल्लेख करता है।

महायान का दर्शन पद्धति

इनमें से पहले दो हीनयानी तथा अंतिम दो महायानी सम्प्रदाय थे।^{३१} इन्हीं के आधार पर अक्सर महायान की दो शाखायें भी मानी जाती हैं। शून्यवादी तथा विज्ञानवादी^{३२}। लगभग द्वितीय शताब्दी ईस्वी के अंतिम चरण में नागार्जुन ने अपनी 'माध्यमिक-कारिका' लिख कर शून्यवाद के सिद्धांत को विस्तृत तर्क-संगत दार्शनिक रूप दिया और उनके लगभग एक शताब्दी बाद ही मैत्रेय के 'अभिसमयालङ्कार-कारिका' का प्रणयन माना जाता है।^{३३}

शून्यवाद के सबसे प्रबल प्रतिपादक आचार्य नागार्जुन थे जो दूसरी शताब्दी तथा तीसरी शताब्दी के मध्य में हुए थे।^{३४} उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'माध्यमिक शास्त्र' है। अपनी कारिकाओं में नागार्जुन ने उत्पत्ति, गति, दुख, बन्धन, मोक्ष आदि सभी धारणाओं की तर्कसहित परीक्षा कर यह सिद्ध किया है कि सभी में विरोधी धर्मों की उपस्थिति है अतः सभी शून्य हैं।

महायान का विकास

नागार्जुन ने इस माध्यमिक मत के प्रचार का मुख्य लक्ष्य यह बताया है कि सभी जिनों को सही दृष्टि प्राप्त हो, किन्तु साथ ही वह इससे भी अवगत है कि यही सिद्धान्त सही दृष्टि को उपलब्धि में बाधक भी हो सकता है अतः वह स्पष्ट कह देता है कि जो केवल इसी सिद्धान्त में सीमित हो जाते हैं उनके भ्रम का निवारण होना कठिन है।³⁴ आर्यदेव इसी की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि जो रोगी है वह औषधि द्वारा स्वस्थ हो सकता है पर औषधि ही जिसका रोग बन जाय उसकी आशा त्याग देनी चाहिये।³⁵ अपने इसी शून्य सिद्धान्त के द्वारा सभी वस्तुओं के विरोधी स्वभावों का निरूपण करते हुए नागार्जुन ने प्रख्यात अष्ट-निषेधों का सिद्धान्त विकसित किया था जिसमें उन्होंने प्रत्येक वस्तु को अनिरोध, अनुत्पाद, अनुच्छेद, अशश्वत, अनेकार्थी, अनार्थी, अनागमी, अनिर्गमी बताया था।³⁶ और प्रथम अध्याय की प्रथम कारिका में ही इन आठ निषेधात्मक स्वभावों का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था कि जो इन आठ निषेधों से परिचित हो जाता है वह कभी भी अतिवादों का आश्रय नहीं लेता है और सदा मध्यम-पथ ग्रहण करता है।

इसी माध्यमिक पथ की ओर साधकों को प्रेरित करने के लिये आचार्य नागार्जुन ने शून्यता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था और उसे सृष्टि का मूल सिद्धान्त बताया था।³⁷ किन्तु इस शून्य का अर्थ हिन्दू दार्शनिक 'सत्ता का अभाव' लेते हैं जो भ्रमपूर्ण है। शून्यता को शून्यवादी आचार्य इस अर्थ में नहीं ग्रहण करते। वे वस्तुओं को नितान्त अतात्विक या सत्ता-शून्य नहीं मानते जैसे कि शशशृंग या आकाश-कुसुम होते हैं।³⁸ किन्तु वे नितान्त तात्विक नहीं हैं क्योंकि वे कारणों पर निर्भर होती हैं और अनित्य होती हैं।³⁹ यही शून्यता है। संसार में कोई वस्तु नहीं जो कारणों पर निर्भर न हो, कोई धर्म नहीं जो हेतुओं पर आधारित न हो। अतः कोई वस्तु या धर्म स्वतंत्र नहीं, सभी परतंत्र हैं, अतः उनका कोई भी स्वभाव नहीं अतः वे स्वभाव-शून्य हैं।⁴⁰

इस शून्य सिद्धान्त का प्रतिपादन उसने 'प्रतीत्य समुत्पाद' के सिद्धान्त द्वारा किया। शून्यता वह है जो 'प्रतीत्य समुत्पाद' द्वारा सिद्ध की जा सके।⁴¹ 'प्रतीत्य समुत्पाद' के अर्थ हैं वह सिद्धान्त जो प्रत्येक वस्तु को कारणों, हेतुओं द्वारा उत्पन्न मानता है। चूँकि सभी वस्तुएँ हेतु पर आधारित हैं अतः उनका स्वतः कोई धर्म नहीं कोई स्वभाव नहीं। अतः वे स्वभाव-शून्य हैं। इस प्रकार वस्तुओं और धर्मों के स्वभाव तथा निरपेक्षता का खंडन करने के उपरान्त

आचार्य नागार्जुन कार्य-कारण-सम्बन्ध का भी विरोध दिखाते हैं। उनका तर्क है कि यदि कारण से कार्य भिन्न है तो इसके अर्थ यह है कि उस कारण के बिना भी कार्य सम्भव था। जिससे परिणाम यह निकला कि किसी भी कार्य के लिये किसी भी कारण की आवश्यकता अनिवार्य नहीं है। बिना कारण के भी कार्य हो सकते हैं। यदि कारण और कार्य में कोई भिन्नता नहीं तो एक ही वस्तु को दो नाम देना और उनकी पृथक् सत्ता मानना असंगत है। ४३ इसी प्रकार वस्तुएँ दूसरी वस्तुओं से भी उत्पन्न नहीं हो सकतीं क्योंकि जब वस्तुओं का कोई अपना निरपेक्ष स्वभाव नहीं है। तो दूसरी वस्तु जैसी कोई कल्पना भी असंगत है, इसी प्रकार तथागत से कोई वस्तु नहीं उत्पन्न हो जा सकती क्योंकि जिस तथागत के पंचस्कन्ध हैं वह भी शून्यता से अस्त होगा और जो पंचस्कन्धों से रहित हो वह तो शून्य है ही। ४४

इस प्रकार नागार्जुन संसार की सभी वस्तुओं को शून्य मानता है। उनकी उत्पत्ति, स्वभाव, धर्म सब कुछ अकथनीय है। अतः वे शून्य हैं ४५ और केवल एक अनन्त शून्यता की धारा में प्रवाहित होते चले जा रहे हैं।

किन्तु फिर प्रश्न उठता है कि निर्वाण क्या है, क्यों प्राप्त किया जाय। कैसे प्राप्त किया जाय। यदि कोई भी वस्तु समुत्पन्न नहीं होती और उसका विनाश भी नहीं होता। तो वह क्या है जिसके निषेध अथवा विरोध से हमें निर्वाण प्राप्त होता है। और तब निर्वाण की इस कल्पना का निषेध करते हुए नागार्जुन कहते हैं कि 'न निर्वाण संसार से परे कोई वस्तु है, न संसार निर्वाण से।' ४६ फिर निर्वाण की निषेधात्मक व्याख्या देने के उपरान्त नागार्जुन कहते हैं कि भाव तथा अभाव के परामर्श के क्षय को निर्वाण कहते हैं। ४७ इसके लिये कहा गया है कि 'आकाशेन कृतो ग्रन्थिराकाशेनैव मोचितः' अर्थात् शून्य (आकाश) द्वारा उलझी हुई गाँठ अन्त में शून्य द्वारा ही खुल जाती है।

आचार्य नागार्जुन की प्रखर तर्कशक्ति के आगे नतमस्तक होते हुए भी उनका दर्शन इतना निषेधात्मक है कि वह अन्ततोगत्वा हमें निष्क्रियता और बौद्धिक उलझन की ओर ले जाता है। स्वतः उनका निषेधा-विज्ञानवाद त्मक तर्क उनकी बुद्ध के प्रति आस्था से सन्तुलित नहीं हो पाता और अन्ततोगत्वा उसे तथागत को निःस्वभाव मानना पड़ता है। यद्यपि उन्हीं की तर्क परम्परा का आलम्बन ग्रहण कर यह कहा जा

महायान का विकास

सकता है कि जो निःस्वभाव है वह सर्वोपरि कैसे हो सकता है। उनके दर्शन की यह अन्धवृत्त में सीमित निषेधात्मकता का अनुभव जिन चिन्तकों को हुआ उन्होंने योगाचार सम्प्रदाय के नाम से महायान के अन्तर्गत ही एक नई चिन्तना प्रणाली का प्रचार किया जो विज्ञानवाद या भूततथतावाद के नाम से भी प्रख्यात है।

अश्वघोष, वसुबन्धु, असंग तथा मैत्रेय योगाचार के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। कहा जाता है कि नागार्जुन के लगभग १ शताब्दी बाद मैत्रेयनाथ ने 'अभिसमयालंकार-कारिका' लिख कर विज्ञानवाद की चिन्तना प्रणाली को एक विशेष रूप दिया।^{४८} इसके बाद यह परम्परा चलती रही और अन्त में असंग ने ५वीं शती में विज्ञानवाद को एक निश्चित रूप दिया।^{४९} माध्यमिक सब पदार्थों को शून्य घोषित करता है किन्तु विज्ञानवादियों के अनुसार द्रष्टा के अनुभव, चित्त या विज्ञान परम्परा को शून्य नहीं कहा जा सकता। उसका अस्तित्व मानना ही पड़ेगा। यदि मानसिक दशाएँ और क्रियाएँ भी सत्य नहीं हैं, तो माध्यमिक के तर्कों का भी कोई महत्व नहीं रहेगा। अतः विज्ञानवाद मनोमय जगत का अस्तित्व मानता है। लेकिन वह केवल मनोमय जगत या विज्ञान की सत्ता मानता है। बाह्य विश्व का पूर्ण निषेध करता है। उसका कहना है कि बाह्य विश्व की सत्ता केवल हमारी अनुभूतियों और चेतनाओं में है। वस्तुएं मन के बाहर दीखती हैं किन्तु हैं वे मन में ही। अतः विश्व केवल विज्ञानों, चेतनाओं और प्रत्ययों की शृङ्खलामात्र है।^{५०}

इस प्रकार यह समस्त संसार केवल विज्ञान-प्रवाह मात्र है जिसका अन्तिम लय 'आलयविज्ञान' या 'विज्ञप्तिमात्रता' में है।^{५१} इस आलयविज्ञान के प्रवाह में एक क्षणिक विज्ञान दूसरे विज्ञान को कार्यकारण शृङ्खला से उत्पन्न करता जाता है। इसी आलय-विज्ञान को चित्त भी कहते हैं।^{५२}

परमार्थ को विज्ञानवादी भी भाव और अभाव से परे मानते हैं। न वह पैदा होता है, न उसका अवसान होता है, न घटता है, न बढ़ता है, न शुद्ध होता है न अशुद्ध।^{५३} इसी को अश्वघोष ने 'भूततथता' भी माना है। यही निर्वाण है और यही विज्ञप्ति-मात्रता है।

जब समस्त अस्तित्व और परम तत्व ही चित्त है, तब इस विज्ञानवाद की साधना भी चित्त के निरोध के अतिरिक्त और क्या हो सकती थी। इसी लिये इस मत के अनुयायियों ने साधना के क्षेत्र में योग अपनाया जिसे चित्त-वृत्ति का निरोध कहा गया है। जैसा हम आगे देखेंगे कि इसी सम्प्रदाय ने सिद्धों

के दर्शन पर बहुत बड़ा प्रभाव डाला था और वज्रयान भी इसी पर मूलतः आधारित था। उस समय भी योगाचार सम्प्रदाय का शून्यवाद से अधिक प्रचलन था। उल्लेख मिलता है कि हेनसांग भी योगाचार सम्प्रदाय का था और हर्ष ने भी इसी सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी।^{५४}

महायान के दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के दार्शनिक तथा तात्विक विवेचन पर दृष्टिपात कर लेने के पश्चात् अब उनके व्यावहारिक धर्म-पक्ष से थोड़ा परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। इस दिशा में सबसे महायान का पहले बुद्ध-काया की कल्पना पर विचार करना चाहिये। धर्मपक्ष महायानी स्तुतियों में बुद्ध-काया के तीन रूप बताये गये हैं^{५५} जो परम सत्ता के तीन पक्षों के प्रतीक हैं—१. धर्म काया, २. सम्भोग काया, ३. निर्माण काया।

त्रिकाया का यह सिद्धान्त शून्यवाद तथा विज्ञानवाद दोनों के द्वारा मान्य था।^{५६} यह धर्म काया तीनों लोकों में अपने को अभिव्यक्त करते हुए भी सभी आवासों, क्लेशों और संस्कारों से मुक्त अनादि, अनन्त, अजर, अमर अपरिवर्तन-शील होती है।^{५७} सम्भोग काया में आनन्द अथवा करुणा की प्रधानता होती है, यह काया बोधिसत्व के रूप में होती है। निर्माण काया वह काया है जिसमें वे मानुषी रूप धारण कर संसार के अनुरूप जीवन यापन करते हैं। शाक्य सिंह केवल एक निर्माण काया है उसके अतिरिक्त भी बौद्ध धर्म के कई आचार्यों को अंश रूप में मानुषी बुद्ध परिकल्पित किया गया है जैसे दीपकर, काश्यप, मैत्रेय आदि।^{५८}

धर्म और साधना पथ में त्रिकाया सिद्धान्त के उपरान्त दूसरी महत्वपूर्ण वस्तु है बोधिचित्त।^{५९} बोधिचित्त, विज्ञान अथवा चित्त की उस अवस्था को कहते हैं जब वह धर्म साधना के लिये उद्बुद्ध होता है। बोधिचित्त की बोधि-अवस्था ज्ञान और धर्म साधना में निरत अवस्था है जिसमें दो प्रमुख तत्व होते हैं शून्यताज्ञान और करुणा।

इस बोधिचित्त को उत्पन्न करने के लिये ६ पारमिताओं की साधना करनी होती है।^{६०} यही पारमिताएँ बोधिचित्त को पार ले जाती हैं।^{६१} पारमिताएँ इस प्रकार हैं—दान, शील, क्षांति (सहनशीलता), वीर्य (आध्यात्मिक शक्ति) ध्यान तथा प्रज्ञा अथवा परमार्थ ज्ञान। इनमें से प्रज्ञा अन्तिम है और

महायान का विकास

सबसे महत्वपूर्ण है। इसकी साधना के बाद ही बोधिचित्तोत्पाद होता है और उसमें शून्यता-ज्ञान तथा करुणा-समन्वित हो जाती है। उसके उपरान्त यह बोधिचित्त ऊपर की ओर उद्बुद्ध होता है और दस बोधिसत्व भूमियों को पार करता है। वे भूमियाँ हैं प्रमुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिस्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला, साधुमती और अन्त में मेघमयी भूमि आती है— धर्ममेघ। तब वह प्रज्ञा या परमार्थ ज्ञान का स्वामी हो जाता है। उसमें अनन्त करुणा का उदय होता है और वह पूर्ण बोधिसत्व होता है।^{६२}

यह समस्त प्रणाली चर्या कहलाती है और चूंकि बोधिचित्त के शून्यता-ज्ञान तथा करुणा से समन्वित होने के उपरान्त यह चर्या समन्वित होती है अतः इसे बोधिचर्या कहा गया। इस बोधिचर्या के मूल में करुणा और अशरण अनाथों को सुख और निर्वाण की प्राप्ति का लक्ष्य है। इसी बोधिचर्या को सम्पन्न कर साधक कल्पना-बन्धन से मुक्त अनुत्तर बोधि को प्राप्त कर लोक का बन्धु और रक्षक हो जाता है।^{६३}

किन्तु यह चर्या जनसुलभ नहीं है अतः जनसाधारण के लिये प्रज्ञा पारमिताओं में कुछ सरल मार्ग भी बताये गये हैं। यह मार्ग बोधिसत्वों की शरण में जाना था। इस शरणागति के साथ साथ पूजा अर्चा का भी सम्यक विधान मिलता है। यह पूजा न केवल मैत्रेय, वैरोचन अथवा अमिताभ की होनी चाहिए वरन जहाँ जहाँ वे गये हैं, आये हैं, धर्मचक्र, प्रवर्तन किया है, वे सभी ग्राम, नगर, राष्ट्र, राजधानी पुष्पसमर्पण के योग्य हैं^{६४} उनके द्वारा उपदिष्ट ये प्रज्ञापारमिताएं भी महिमामयी हैं और पूजनीय हैं।^{६५} शत साहसिकी प्रज्ञापारमिता के बीसवें परिवर्त में चैत्यों में बुद्ध के अवशेषों की पूजा का महात्म्य बताया गया है। इस प्रकार की पूजा न केवल निर्वाण वरन भौतिक सिद्धियाँ भी प्रदान करती थीं।^{६६}

कालांतर में साधकों की सुविधा के लिये तथा जनसाधारण को महायान में समाविष्ट करने के लिये पारमिता-शास्त्र को संक्षेप में लिखा जाने लगा। शत-साहसिका को दश साहसिका, अष्ट साहसिका शतश्लोकी, पारमितानयः और अन्त में केवल एक हृदयसूत्र मात्र में उसे संक्षिप्त कर मंत्रनय दिया गया।^{६७} उन मंत्रों के साथ विभिन्न ध्यानी बुद्धों का भी महत्व जुड़ गया और इस प्रकार महायान के साधना-पक्ष के दो रूप हो गये:

पारमितानय तथा मन्त्रनय । धीरे धीरे मन्त्रनय में तान्त्रिक साधनाओं का विकास हुआ, त्रिकाया में वज्रकाया भी जोड़ दी गई, शून्यता तथा विज्ञान के साथ महा-सुख का सिद्धांत विकसित हुआ । बोधिसत्त्वों की दशभूमि तथा पारमिताओं की साधना के बजाय प्रज्ञोपाय साधना का विकास हुआ । देवशृङ्खलाओं में अगणित देवताओं की वृद्धि हुई और हर देवता की एक शक्ति देवी रूप में परिकल्पित हुई, गुह्य साधनाओं का विकास हुआ और महायान का रूप तान्त्रिक हो गया और उसे वज्रयान के नाम से अभिहित किया जाने लगा । उसमें सिद्धियों, का भी विकास हुआ और अन्त में दर्शन की अपेक्षा क्रिया, चर्या, अभ्यास, अनुष्ठान, रहस्य साधनाओं का प्रचार हो गया । उन्हीं में निष्णात आचार्यों को वज्रयानी सिद्धों के नाम से अभिहित किया गया ।^{६८}

इस प्रकार महायान की लोकपरक साधना ने ही मन्त्रनय और वज्रयानी तान्त्रिक साधनाओं में परिणति पाई ।^{६९} यह भाग्य उस समय की लगभग सभी भारतीय धर्म साधनाओं का हुआ क्योंकि एक अदम्य तान्त्रिक लहर उस समय आई थी जिसने हमारी समस्त संस्कृति को अभिभूत कर लिया । बौद्ध, वैष्णव, शैव, शाक्त, जैन सभी उससे प्रभावित हुए और सभी ने एक दूसरे पर कुछ न कुछ प्रभाव छोड़ा । वज्रयान का स्वरूप समझाने के लिये उस तान्त्रिक धारा के उद्भव का विशेष परिचय पाना आवश्यक है ।

मन्त्रनय से
वज्रयान

ख
समकालीन बौद्ध-तर
तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

लगभग ४०० ईस्वी सन् तक महायान के देवतापरक, पूजा-प्रधान, मन्त्र विधान से युक्त परवर्ती रूप का विकास हो चुका था । इसके बाद ६ठीं शताब्दी के लगभग बौद्ध धर्म में सहस्रा तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश होता है और इतनी शीघ्रता से बौद्ध धर्म का रूप परिवर्तित होता है, दो या तीन सौ वर्षों के ही अन्दर वज्रयानी साधनाएँ इतनी प्रचलित हो जाती हैं, बौद्ध देवताओं की संख्या इतनी अपरिमित, उनके रूप इतने विविध, उनकी शक्ति देवियाँ इतनी अगणित हो जाती हैं, उनके मन्त्र-तन्त्र-अभिचार, सिद्धियों और क्रियाओं का इतना प्रचार हो जाता है कि उसके मूल रूप का कहीं पता भी नहीं लगता ।

वास्तव में ६०० से १२०० ई० तक का काल ही ऐसा रहा है कि भारतीय धार्मिक संस्कृति में सहस्रा तान्त्रिक साधनाओं का प्रादुर्भाव होता है और वे इतनी व्यापक हो जाती हैं कि सभी सम्प्रदाय चाहे वे वैदिक तान्त्रिक-काल हों या अवैदिक, चाहे वे वैष्णव हों या शैव, चाहे वे बौद्ध हों या जैन सभी तान्त्रिक सृष्टि-तत्त्व, तान्त्रिक देवमंडल, तान्त्रिक तान्त्रिक यन्त्रविधान, तान्त्रिक मन्त्र साधना, तान्त्रिक आचार-विधान तथा हठयोगी साधनाओं को प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रश्रय देने लगते हैं । इसी कारण इस समस्त काल को ही विद्वानों ने तान्त्रिक काल के नाम से अभिहित किया है । ^१

वैसे इस काल के सामान्य सांस्कृतिक मूल्यांकन के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान इसे हास और पतन का काल कहते हैं, जब चिन्ता-पारतन्त्र्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था, कला में भी सजावट और पञ्चीकारी की ओर अधिक दृष्टि थी।^२ किन्तु कुछ विद्वान इसे 'भारतीय मनीषा की जागरूकता, कर्मण्यता और प्रतिभागत उत्कर्ष' का काल' मानते हैं।^३ वास्तव में इसका रूप बहुत कुछ इस प्रकार है कि पुराने ग्रन्थों पर टीकाओं की परंपरा ज्यादा बढ़ जाती है और उनमें पुराने सिद्धान्तों के नये और कभी कभी योगपरक या तन्त्र-परक अर्थ भी दिये जाने लगते हैं। कभी कभी लोकधर्म के नये आचार पुराने सम्प्रदायों में प्रवेश कर जाते हैं और छोटे-छोटे सम्प्रदायों में यद्यपि उस एक ही तान्त्रिक प्रभाव की वृद्धि होती है किन्तु उनका पारस्परिक प्रभाव और विग्रह दोनों ही चरमसीमा पर पहुँच जाते हैं। दूसरी ओर भारतीय धर्म प्रचारकों की पहुँच सुदूर जापान तक होती है और भारतीय चिन्तना का विदेशों से जितना आदान-प्रदान इस काल में होता है उतना पहले कभी भी नहीं हुआ था।

इस काल में छोटे छोटे अगणित सम्प्रदायों का उद्भव हुआ जिनका मुख्य आधारदण्ड किसी विशेष देवता की प्रधानता या किसी विशेष आचार-पद्धति की प्रधानता थी। कभी कभी आचार के छोटे से छोटे अगणित नये सिद्धान्त पर नया सम्प्रदाय उठ खड़ा होता था। जैनियों में आचार-प्रवण तो इस प्रकार के अगणित सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता सम्प्रदाय था। हत्थी-तावस जो हाथी का शिकार करते थे, बाल-तावस जो केवल पेड़ से गिरी पत्तियों का भक्षण करते थे, कण्डप्पिय जो बाजीगरी के कौतुक कर जीवन यापन करते थे, उत्तर कूलग जो गंगा के केवल उत्तरी तट पर रहते थे, दाहिण कूलग जो केवल दक्षिणी तट पर रहते थे आदि आदि।^४ ये छोटे छोटे सम्प्रदाय मुख्यतया अपनी वृत्ति और अपने रहन-सहन की विलक्षणता पर बन जाते थे और धीरे धीरे इनका बाह्याचार इनके धर्म का प्रमुख प्रतीक मान लिया जाता था। इससे प्रतीत होता है कि उस समय की धर्म साधना में तत्त्व-चिन्तना गौण थी, बाह्याचार की अनुगामिनी थी और उस समय का धार्मिक वातावरण विशेषतया अनुष्ठान और क्रिया-परक था।

आज उनमें से अधिकांश सम्प्रदाय विलुप्त हो गये हैं। वे अधिकांश निम्न वर्ग के लोक-परक सम्प्रदाय थे अतः उनकी भाषा लोकभाषा ही रही

समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

होगी ^५। इसी कारण उनका उल्लेख संस्कृत ग्रन्थों में भी कम ही मिलता है। किन्तु वे सभी सम्प्रदाय न जाने कितने आचार और कितने स्थानीय देवी-देवताओं और उनके पूजन की जाने कितनी विधियाँ छोड़ गये हैं जो अब भी उन बड़े तान्त्रिक सम्प्रदायों और ग्रन्थों में पाई जाती हैं जिनमें वे अन्तर्भुक्त हो गये हैं। उस समय समसामयिक साधना पद्धतियों ने एक दूसरे को बहुत प्रभावित किया है ^६ और इस दृष्टि से बौद्ध-धर्म के तान्त्रिक रूप वज्रयान और उसके लोक-भाषा में लिखे गये साहित्य चर्यापद तथा दोहों के अध्ययन के लिये उस समय की धार्मिक साधनाओं से सूक्ष्म परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है। क्योंकि जैसा हम आगे चल कर देखेंगे कि मूल बौद्ध धर्म और तन्त्रों में कहीं कोई समानता ही नहीं है और यह किसी प्रकार भी संभव नहीं है कि बौद्ध धर्म ने इसे अपनी ही परम्परा में, अपने ही क्षेत्र के अन्दर विकसित किया हो। उसने तत्कालीन प्रचलित साधनाओं को महायान के विकास के उत्तरार्द्ध में अपना कर उन्हें बौद्ध शब्दावली प्रदान कर दी थी। वास्तविकता तो यह है कि वाद का वज्रयानी चिन्तन उन्हीं साधनाओं पर आधारित है। उन साधनाओं को पचाने के लिये, उनका औचित्य सिद्ध करने के लिये वज्रयानी आचार्यों ने त्रिकाया, बोधिचित्त, करुणा, शून्य आदि के तान्त्रिक अर्थ दे दिये हैं।

जैसा कहा जा चुका है कि अपनी समस्त विविधता के आवरण में भी इस तान्त्रिक काल में प्रचलित छोटे बड़े सम्प्रदायों में एकसूत्रता यह थी कि इन सबों में तत्त्व-चिन्तन की अपेक्षा साधनापद्धति की प्रधानता तन्त्र की व्याख्या थी। किसी एक देवता या शक्ति को सृष्टि का मूल-तत्त्व मानना, उपासना की पद्धति की प्रचुर प्रसार और विस्तार से व्याख्या करना, मन्त्रों का महत्व, देवताओं के प्रतीक बीजाक्षरों और वर्णों का विधान, भूतसिद्धि, कुण्डलिनी-योग, रहस्यमयी साधनाएँ, बाहर से मर्यादा-विरुद्ध दीखने वाले गुह्य वामाचार, दीक्षाएं और गुरु का महत्व, ये सभी तत्त्व इनमें एक समान हैं। उनमें इतनी अधिक समानता है कि शैवों ने यदि उसे शैव परिभाषा दी है, बौद्धों ने बौद्ध, तो इससे कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। मूल स्वर उन सबों का एक है। वे सभी तान्त्रिक मत हैं। तन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि तत्त्व-मन्त्रों से समन्वित जो विपुल अर्थों का विस्तार करता है और त्राण भी करता है उसे तन्त्र कहते हैं ^७। इस साधनापरक धर्मपद्धति को

तन्त्र क्यों कहते थे, इसके विषय में कहा जाता है कि 'तन्त्र' की व्युत्पत्ति 'तन्' धातु से हुई है 'तन्यते विस्तारयते ज्ञानम् अनेन इति तन्त्रम्' के अनुसार किसी भी ज्ञान को जो विस्तार प्रदान करता है, उसका सांगोपांग विवरण देता है उसे तन्त्र कहते हैं। इसी के अनुसार हमें न्यायतन्त्र, चिकित्सातन्त्र आदि शब्द मिलते हैं।^{१८} ज्ञात यह होता है कि धर्म साधनाओं में जिन नई पूजाओं, मन्त्र-पद्धतियों, देवी देवताओं, अनुष्ठानों, यन्त्रों, योगसाधनाओं का प्रवेश हो रहा था उन्हें पूर्ण रूप से एक ज्ञान या एक चिन्तनापद्धति के अन्दर समन्वित कर एक नियम अथवा एक अनुशासन में सुयोजित कर देने वाली प्रणाली का नाम तन्त्र पड़ गया।^{१९}

एक विचारणीय प्रश्न यह है कि यह तन्त्राचार आया कहाँ से। क्या यह पहले से ही हमारे देश में प्रचलित था? यदि ऐसा था तो क्यों इसी शती में उसका इतना प्रभाव मिला है। या इन्हीं दिनों या इसके तन्त्र का कुछ पहले यह किसी विदेशी जाति के साथ आया और उद्गम कुछ ही शतियों में समस्त देश की धर्म-योजना में इतना गहरा पैठ गया कि हमारी समस्त चिन्तना का रूप बदल गया। कई विद्वानों ने तन्त्रों के विदेशी उद्गम का उल्लेख किया है।

महामहोपाध्याय डा० हरप्रसाद शास्त्री ने तन्त्रों का भारत में आगमन शकों के मग पुरोहितों के साथ बताया है।^{१०} यद्यपि इसके साथ उन्होंने कोई विशेष प्रमाण नहीं दिये थे किन्तु उनके इसी मत के आधार पर डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इस सम्भावना की कल्पना की कि योगाचार मत का प्रमुख आचार्य और वज्रयान मत में तन्त्रों के प्रथम उपदेश के लिये प्रख्यात असंग गान्धार देश का निवासी था और संभव है वह गय पुरोहितों की तान्त्रिक साधना-पद्धति से परिचित हो।^{११} किन्तु इसके अन्य कई प्रमाण मिलते हैं जो अधिक प्रबल हैं। पहला तो यह है कि प्राचीन वाङ्मय में कभी कभी तन्त्रों की साधनापद्धति को अद्भुत बताया गया है और उसे अवैदिक भी कहा गया है।^{१२} दूसरे स्वतः तन्त्र-ग्रन्थों में भी कभी कभी ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि तन्त्रों का प्रचार करने के लिये देवता बाहर से आये और फिर लौट गये।^{१३}

इसमें कोई संदेह नहीं कि तन्त्रों में समय समय पर विदेशी साधनाओं का भी प्रवेश हुआ है। चीनागम तथा चीनाचार तो स्पष्ट विदेशों से आया

समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

हैं। कालान्तर में तन्त्रों के दो भेद माने गये। एक परंपरागत आगम, यमल इत्यादि और दूसरे नवीन तन्त्र जिनमें बौद्ध तथा वामाचार, कौलाचार के अन्तर्गत आने वाली तान्त्रिक साधनाएँ हैं।^{१४} इन पर किस प्रकार विदेशी प्रभाव पड़ा और उनमें से एक विशेष विदेशी सम्प्रदाय 'ताग्रो' ने कहाँ तक सहजयानी दर्शन को प्रभावित किया^{१५} इस पर बाद में विचार किया जायगा।

जहाँ तक पुराने तन्त्रों का प्रश्न है उनका नाम 'आगम' भी यह सूचित करता है कि वे सम्भवतः वैदिक परम्परा के नहीं थे।^{१६} हमें मध्यकालीन धार्मिक साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में इन्हें अवैदिक कहा जाता रहा और अन्त में जो मत लोक-प्रचलित हो गया उसे ब्राह्मण परम्परा द्वारा ग्रहण कर लिया गया। जो अपेक्षाकृत नवीन पुराण^{१७} हैं उनमें भी अक्सर ऐसे बहुत से नवोदित सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है जिन्हें रूढ़िवादी चिन्तक वर्ग अवैमानता था। 'कूर्म पुराण' में लाकुल, वाम, पूर्व, पांचरात्र, भैरव कापालिक आदि मतों को अवैदिक बताया गया है। अधिक रोचक अंश यह है कि विष्णु तथा रुद्र इन दो देवताओं को इन मतों का मूल प्रवर्तक बताया जाता है और यह भी कहा जाता है कि इन्होंने इन मतों का प्रचार कुछ ऐसे ब्राह्मणों से कराया जो वेद पढ़ने का अधिकार खो चुके थे।^{१८} किन्तु कूर्म पुराण में ही अन्त में ग्यारहवें तथा बारहवें अध्याय में शिव का शक्ति और शक्तिमान इन दो तत्वों में विभाजित होने का वर्णन तथा हिमालय द्वारा तपस्या कर अपने कुल में शक्ति का पुत्री रूप में अवतरित होने के वरदान पाने का वर्णन है और अन्त में देवी स्वतः कहती हैं कि 'ये कुशास्त्राभियोगेन मोहयन्तीह मानवाम्, मया सृष्टाणि शास्त्राणि मोहायेषाम् भवान्तरे'। इससे स्पष्ट होता है कि सम्भवतः यह अंश किसी शाक्त चिन्तक द्वारा प्रणीत है जिसने अपने मत को वैदिक सिद्ध करने का प्रयास किया है। इस प्रकार कितने ही नये मत प्रारम्भ में अवैदिक कह कर त्याज्य रहे और बाद में वे हिन्दू धर्म परम्परा में अन्तर्भुक्त होते गये।^{१९}

कूर्मपुराण से कम से कम एक बात बहुत महत्वपूर्ण ज्ञात होती है कि ये तान्त्रिक सम्प्रदाय ऐसे ब्राह्मणों द्वारा प्रवर्तित थे जो रूढ़िवादी ब्राह्मणों द्वारा नीची निगाह से देखे जाते थे और जिन्होंने अपना द्विजसुलभ वेदपाठन का अधिकार खो दिया था।

दूसरी ओर भारतीय वैदिक वाङ्मय के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन, मन्त्र, रक्षा, सिद्ध, गुह्य साधनाओं का

अचुर उल्लेख मिलता है। उस समय भी अथर्ववेद को आर्य परम्परा में नहीं गिना जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अथर्ववेद की गुह्य साधनाएँ भारत के अनार्य आदिवासियों की थीं जिन्हें पूर्वागत आर्यों ने अपना लिया था। इसी कारण बाद में आनेवाले अन्तरङ्ग आर्य उन्हें 'व्रात्य' कहा करते थे। इन व्रात्यों का आचार-विचार बहुत कुछ अनार्य जातियों से प्रभावित रहता था। पहले तो अन्तरङ्ग आर्यों ने अनार्यों की भाँति उन्हें भी बहिष्कृत रक्खा किन्तु बाद में वे अक्सर 'व्रात्यस्तोम' नामक यज्ञ समारोहों में उन्हें शुद्ध कर अपनी सामाजिक परिधि में वापस ले लेते थे।^{२०} इन व्रात्यों के साथ साथ बहुत सी भारत के मूलनिवासियों की आदिम प्रवृत्तियाँ, अन्धविश्वास, यन्त्र मन्त्र और जादू टोना आ गया होगा। इसके अतिरिक्त कई स्थानों पर आर्यों ने इन मूलनिवासियों की रूपवती कन्याओं से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया था।^{२१} इस प्रकार धीरे धीरे आर्यों की विचार परम्परा में आर्येतर साधनाएँ और देवी देवता भी प्रवेश पाने लगे। प्रारम्भ में अन्तरङ्ग आर्यों ने उनका स्वागत नहीं किया, वे केवल गौण देवता रहे किन्तु धीरे धीरे प्रमुखता पाते गये। शिव इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।^{२२} ब्राह्मणों का विरोध होते हुए भी जनसाधारण में यह सभी जादू टोने की सिद्धियाँ प्रचलित रहीं और रहस्य-साधनाएँ चलती रहीं। निस्संदेह बहिरंग आर्यों में आसाम, उड़ीसा, महाराष्ट्र, काठियावाड़, गान्धार, भोटान्त, बंगाल, मगध आदि देशों में इनका प्राधान्य रहा होगा। ये व्रात्य जातियाँ रूढ़िवादी ब्राह्मणों के आचार-विचार और जाति-व्यवस्था की भी विरोधी थीं और उनकी कड़ी आलोचना करती थीं। अधिकांश विद्रोही चिन्तक, महावीर, गौतम आदि इन्हीं प्रदेशों के थे। तन्त्रों का सम्बन्ध निस्संदेह इन रूढ़िगत आचार के विरोधी, जाति-व्यवस्था को उतनी कड़ाई से न मानने वाले, आदिम आर्येतर संस्कारों और साधनाओं से युक्त बहिरंग आर्यों से रहा होगा। तन्त्रों के अधिकांश केन्द्र इन्हीं बहिरंग क्षेत्रों में थे।^{२३} अथर्ववेद इनका मूल ग्रन्थ था इसे भी तान्त्रिक विचारक भूले नहीं थे।^{२४}

कालान्तर में ये साधनाएँ लोक साधारण में व्याप्त हो गईं। उन्चवर्गीय ब्राह्मण धर्म के अतिरिक्त एक लोकप्रचलित धर्म भी था जिसमें ऐसे साधकों के प्रति आदर या भय रहा होगा। लोक साधारण में उस समय **लोक-धर्म** कुल-देवियों और स्थानीय ग्रामीण देवी देवताओं का भी

समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

पूजन प्रचलित था जिनको प्रसन्न करने के लिये टोना-टोटका भी होता था। ऐसी एक देवी थी जिसका मुख बिल्ली के समान होता था और बच्चों से घिरी होती थी।^{२५} तन्त्र परम्परा का सम्बन्ध लोक साधारण में पूजित कुल देवियों से अवश्य था इसके कई महत्वपूर्ण प्रमाण मिलते हैं। 'अक्षर विधान' में ईश्वर अपनी शक्ति से कहता है कि 'तुम प्रयाग के समीप कर्णवीर नामक महाग्राम में मेघदत्त के शुभ गृह में उत्पन्न हुई और तेरह वर्ष तक मेरी पूजा कर तुमने सिद्धि प्राप्त की'।^{२६} इनमें अक्सर निम्न-वर्ग की कुलदेवियाँ भी होती थीं।^{२७} कुब्जिकातन्त्र में कुब्जिका देवी कुम्भकार के यहाँ उत्पन्न हुई थीं और उनकी पूजा का विधान भी कुम्हार के ही यहाँ है और उससे सम्बन्धित समस्त आचार प्रणाली को ही 'कौलिकाम्नाय' नाम दिया गया है।^{२८}

बहुत संभव है कि प्रारम्भ में इन पूजोपचारों के लिये कुलीन ब्राह्मण न प्रस्तुत होते हों अतः बहुत से ब्राह्मण जो निम्नवृत्ति अपनाने के कारण या आचारभ्रष्ट हो जाने के कारण रूढ़िवादियों द्वारा तिरस्कृत कर दिये गये हों या जो स्वयम् उनके प्रति विद्रोही हों और लोकधर्म और लोकाचार को ग्रहण कर चुके हों, वे इन जातियों और इनकी पूजाओं के पुरोहित बन गये हों। ऐसे उल्लेख हमें अक्सर मिलते हैं कि कुछ विशेष जातियों के विशेष पुरोहित रहे हैं,^{२९} या विशेष अभिचारों के लिये लिये विशेष ब्राह्मण ही बुलाये जाते रहे हैं। इसी प्रकार के ब्राह्मणों ने तन्त्रों का तथा तान्त्रिक मतों का प्रचार किया होगा। और तभी कूर्म-पुराण में ऐसे सम्प्रदायों के प्रचारकों को वेदच्युत ब्राह्मण कहा गया है।^{३०}

इस प्रकार तन्त्र वास्तव में उन अगणित लोकाचारों, लोक में पूजित देवियों, तथा लोक प्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानों का परिणत रूप है जो आदि निवासियों ने सृष्टि से संग्राम करते समय अपना लिये थे और जो सदैव हमारे देश के निम्न-वर्ग में प्रचलित रहे। तान्त्रिक काल में यह लोकधर्म उभर कर ऊपर आ गया और इसको ग्रहण करने के लिये कितने ही सम्प्रदाय प्रत्येक धर्म में बन गये जिनमें साधना प्रधान थी और उसी साधना के अनुरूप उन्होंने अपने देवी देवताओं का स्वरूप, उनके पारस्परिक सम्बन्ध, उनकी चर्या, क्रिया, अभिचार, मन्त्र आदि परिकल्पित कर लिये। इसीलिये तन्त्रों का आगम नाम सर्वथा उपयुक्त है। वे लोक प्रचलित, आदिम परम्पराओं पर आधारित अनुष्ठान उच्च-वर्गीय चिन्तना में 'आवे', वे शुद्ध वैदिक दृष्टि से 'बाहरी' तत्व थे और कालान्तर

में विदेशी साधनाएँ भी उनमें समाहित होती रहीं (इस लोकधर्म के उभर कर ऊपर आने का कारण निश्चित रूप से वह सामाजिक पृष्ठभूमि थी जिसका आभास हम पिछले अध्याय में दे चुके हैं) तान्त्रिक आचार्यों ने तो घोषणा यह तक की कि श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणों का युग बीत गया और अब केवल तन्त्रों का युग है।^{३१} और धीरे-धीरे तन्त्र साहित्य का महत्व इतना बढ़ा कि वह भी वैदिक श्रुतियों के समकक्ष गिना जाने लगा।^{३२}

तन्त्रों में जो कि वैष्णव-शक्ति लक्ष्मी की पूजा का विधान करते हैं वे संहिता, शैव-तन्त्र आगम तथा शक्ति-तन्त्र तन्त्र कहलाते थे।^{३३} इनमें से पांच-

रात्र संहिताओं की परम्परा बहुत प्राचीन है और उनके तान्त्रिक सम्प्रदाय : सम्पादक डा० श्रेडर का कहना है कि कुछ संहिताएं पांचरात्र ईस्वी शती के पहले भी वर्तमान थीं। शेष संहिताएं

या तो तान्त्रिक काल तक बन चुकी थीं या बन रही थीं। कहा यह जाता है कि इनके पहले भी वैखानस संहिताएं दक्षिण भारत के मन्दिरों में व्यवहृत की जाती थीं। किन्तु रामानुज ने वैखानस संहिताओं का विरोध किया और उनके स्थान पर पांचरात्र संहिताओं का प्रचलन किया।^{३४}

इन पांचरात्र संहिताओं की विषयवस्तु चारपाद में विभाजित थी। ज्ञानपाद, योगपाद, क्रियापाद, चर्यापाद। इनमें से ज्ञान तत्त्व-दर्शन, योग चित्तवृत्ति-साधना, क्रिया मन्दिरों तथा प्रतिमाओं की स्थापना उसके पूजा अर्पण आदि का विधान और चर्या मंत्र-तंत्र की साधना की व्याख्या करते थे।^{३५} तंत्रों की सामान्य प्रकृति के अनुसार इसमें साधना पर विशेष आग्रह था क्योंकि पञ्चतंत्र में ४५ पृष्ठों में ज्ञानपाद, ११ पृष्ठों में योगपाद, २१५ पृष्ठों में क्रियापाद तथा ३७६ पृष्ठों में चर्यापाद के विधानों का वर्णन है। क्रिया तथा चर्या प्रमुख विषयवस्तु है और ज्ञान तथा योग तो केवल पीठिका या सन्दर्भ रूप में दे दिये गये हैं।^{३६}

साधना पक्ष में इन संहिताओं में मंत्र-शक्ति तथा मंत्रों का विशेष वर्णन किया गया है।^{३७} बाणी नारायण से उद्भूत हुई है। यह बाणी प्रारंभ में एक घंटे की गूढ़ ध्वनि बिन्दु या अनुस्वार में परिणत हो जाती है जिसके दो रूप हैं शब्द-ब्रह्म या तत्त्व का बोध कराने वाला शब्द, और भूति या वह वास्तविक तत्त्व। बिन्दु दो रूप ग्रहण करता है। स्वर तथा व्यंजन। फिर परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी^{३८} के सिद्धांत के अनुसार ये प्रसुप्त स्वर कुण्डलिनी के साथ ऊर्ध्व-

समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

गामी होकर चक्रों का भेदन करते हुए करुण तक पहुँचते हैं जहाँ सबसे पहले ध्वनि उत्पन्न होती है, इसी कारण विसर्ग की व्याख्या सृजन-शक्ति या सृष्टि के रूप में गई है और उसी का पूरक अनुस्वार संहार का प्रतीक माना गया है। अनुस्वार को सूर्य माना गया है तथा अ, इ, ऋ, उ, लृ, ए, ओ को सूर्य किरण समूह माना गया है। विसर्ग को चन्द्रमा माना गया है तथा दीर्घ स्वरों को आ, ई, ऋ, लृ, ऊ, ऐ, औ, को चन्द्रकिरण समूह। इनमें से अनुस्वार समूह दिन से सम्बद्ध है, पिंगला नाड़ी से सम्बद्ध है और विसर्ग समूह रात्रि से सम्बद्ध है, इडा से संबंधित है।^{३९}

पुनश्च वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के त्रिविध रूप बताये गये हैं :—

१. वैष्णव, २. शैव तथा ३. शाक्त।^{४०}

यंत्र भी इन्हीं मंत्रों के ही अविभाज्य अंग थे। इन यंत्रों का स्वरूप रेखागणित के षट्कोणादि के रूप में था जो वास्तव में सुदर्शन पुरुष और उसके अंतर्गत १२ व्यूहों के रेखा-रूप थे। जब इनमें से रूप हट जाता था तब वे केवल वाणी रूप में अधिष्ठित होकर मंत्र का रूप ग्रहण कर लेते थे।^{४१}

इन मंत्रों को अस्त्रों तथा चक्रों के अभिचार रूप में भी प्रयुक्त किया जाता था।^{४२} अस्त्र अदृश्य होते थे पर समय पड़ने पर वे भयंकर रूप वाले प्राणियों का शरीर धारण कर लेते थे, उनके विकराल दाँत तथा अग्निजिह्वाएँ होती थीं और कोई दाहक सूर्य के वर्ण का, कोई लोहित वर्ण का, कोई श्वेत वर्ण का होता था और लौह-फल जैसे घातक शस्त्र उनके हाथों में रहते थे।^{४३}

पाँचरात्र संहिताएं न केवल बौद्ध धर्म से परिचित थीं वरन् वे बौद्ध धर्म को अपना दूसरा प्रतिरूप ही मानती थीं। बौद्धों के शून्यवाद की गिनती उस समय के प्रमुख सम्प्रदायों में थी। पद्म तंत्र में^{४४} प्रलय के उपरांत वटपत्र पर शायी विष्णु को शून्य नाम से अभिहित किया गया है^{४५} सुदर्शन चक्र को काल चक्र का प्रतीक माना गया है जो बौद्धों को बुद्ध रूप दृष्टिगोचर होता है।^{४६}

इन वैष्णव संहिताओं के समान शैवागमों की परम्परा भी बहुत प्राचीन है। ये शैवागम शिव के पाँच मुखों द्वारा लोक में प्रकट किये गये थे।^{४७} इन

पाँच मुखों से प्रकट आगमों की संख्या २८ मानी जाती है।^{४८}

शैवागम इनको शैव सिद्धांत के नाम से भी पुकारते हैं। इसमें तीन पदार्थों की सत्ता मानी जाती है। प्रथम पति अथवा शिव।

द्वितीय पदार्थ पशु है अर्थात् वह शिवरूप जो मलादि से युक्त हो गया है। तृतीय पदार्थ पाश है जिसके चार रूप हैं मल, कर्म, माया, तथा रोधशक्ति। मुक्ति का परम साधन शिव का अनुग्रह माना गया है जिसमें आचार्य रूप से शिव पशु को “दीक्षा” देते हैं। यह “दीक्षा” ही अनुग्रह है।^{४३}

इन आगमों के आधार पर पद्म-तंत्र (१. १. ५०) में शिव को तीन प्रमुख सम्प्रदायों का प्रवर्तक बताया गया है। पाशुपत, शुद्ध शैव तथा कापाल।^{५०} तान्त्रिक शैव मतों में पाशुपत मत सम्भवतः सबसे प्राचीन है और अवान्तर उपनिषत्काल में ही इसका विकास होने लगा था। इसके ऐतिहासिक संस्थापक का नाम लकुलीश या नकुलीश था। इनकी मूर्तियाँ अब भी गुर्जर, राजस्थान, मालवा तथा गौड़ देश में प्राप्त हैं जिनमें वे एक हाथ लकुटी धारण किये हैं। अतः उनका नाम लकुटीश पड़ा। लकुटीश का समय मथुरा शैव स्तम्भ के शिलालेख के आधार पर डा० भण्डारकर ने द्वितीय शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना है। इसी समय कुशानवंशी हुविष्क की मुद्राओं पर लकुटीधारी शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं।

पाशुपत तीन के स्थान पर पाँच पदार्थ मानते हैं कारण, काया, योग, विधि तथा दुखान्त। कारण साक्षात् शिव है। कारण द्वारा निर्मित पदार्थ कार्य कहलाता है जो परतन्त्र होता है और तीन प्रकार का होता है विद्या, कला, पशु। विद्या पशु का गुण है जो दो प्रकार की है बोधात्मिका तथा अबोधत्मिका। बोधात्मिका के भी दो भेद हैं विवेकजनक, अविवेकात्मिका। अबोध अधर्म की जननी है। कला में चेतन के भी वश में होने वाले द्रव्यों की गणना है और पशु स्वयम् जीव है। पशु दो प्रकार का बताया गया है, शरीरेन्द्रियधारी पशु सांजन और उससे मुक्त पशु निरंजन। तीसरा पदार्थ है योग जो चित्त की क्रिया है उसी से आत्मा व ईश्वर का संयोग होता है “चित्तद्वारेण आत्मेश्वर संयोगो योगः”। चतुर्थ पदार्थ विधि है जो बाह्याचार का द्योतक है। इस पर तन्त्रों का स्पष्ट प्रभाव है।^{४१}

विधि के दो भेद हैं, व्रत तथा द्वार। व्रत पाँच प्रकार के होते हैं। भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार, जप तथा प्रदक्षिणा।

दुखान्त मोक्ष को कहते हैं। यह भी दो प्रकार का है। अनात्मक अर्थात्

समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

जिसमें केवल त्रिविध दुखों की निवृत्ति होती है। सात्मक में उसे सिद्धियाँ भी मिलती हैं। ५२

शुद्ध शैवमत के दो रूप हो गये थे। उत्तर में काश्मीर में स्पन्द-शास्त्र, त्रिकदर्शन या प्रत्यभिज्ञादर्शन जो कि अद्वैतवाद से प्रभा-काश्मीरी शैवमत वित था और दक्षिण में वीरशैव जो विशिष्टाद्वैतवाद से प्रभावित था। अनुश्रुति यह है कि भगवान शंकर ने इस मत के आदि प्रवर्तक वसुगुप्त (६ वीं शती प्रारम्भ) को स्वप्न दिया कि वे महादेव गिरि में किसी गुहा में उत्कीर्ण शिवसूत्रों का उद्धार करें जिनके आधार पर उन्होंने बाद में 'स्पन्दकारिका' लिखी। उनके दो शिष्य थे, कल्लट तथा सोमानन्द। कल्लट ने त्रिकदर्शन^{५३} और सोमानन्द ने प्रत्यभिज्ञादर्शन लिखा। इन्हीं के शिष्य उत्पल तथा उत्पल के शिष्य अभिनवगुप्त हुए थे। पूर्वी देशों के शाक्त मतों का घनिष्ठ सम्बन्ध इस शैवमत से अवश्य था, चाहे हम यह स्वीकार करें या न करें कि शाक्त मत इन्हीं की एक शाखा थी। जहाँ तक सिद्धान्तों का प्रश्न है मुख्य सिद्धान्तों पर कल्लट तथा सोमानन्द में कोई अन्तर नहीं है। इन्होंने आगमों के ही सिद्धान्तों को अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थित कर दिया है। स्पन्द-शास्त्र के अनुसार केवल शिव सत्य है। वह पूर्ण स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान है। जीव मूल रूप में शिव है केवल अणु, माया तथा कर्म इन तीन मलावरणों के कारण अपने को अलग मानता है। इन मलों का मूलकारण शब्द है। यह शब्द अथवा नाद शिव की शक्ति का स्त्री रूप है। इसको शिव में लीन करने का साधन माया है। परम साक्षात्कार को भैरव कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञा में इसी परम साक्षात्कार का एक नया रूप है। लौकिक प्रयोग में 'यह वही व्यक्ति है,' इस ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। ईश्वर से साक्षात्कार होने पर 'मैं वही ईश्वर हूँ' यह ज्ञान ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा है। ईश्वर को पाँच शक्तियों से सम्पन्न बताया गया है। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। अद्वैतवाद के समस्त सिद्धान्तों को लेते हुए भी इसमें ईश्वर को इच्छा-सम्पन्न बताया गया है।^{५४}

दक्षिण में शैवमतों की दूसरी तान्त्रिक साधना विकसित हुई जिसे वीर

शैवमत या लिंगायत सम्प्रदाय या शक्ति विशिष्टाद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है। अनुश्रुति के अनुधार इसका प्रचार रेणुकाचार्य, वीर शैवमत दारुकाचार्य धरटाकर्ण, धेनुकर्ण तथा विश्वकर्म द्वारा हुआ था। ये आचार्य इतिहास तथा दिशा और काल की सीमाओं से परे माने जाते हैं। कलि में इनका नाम रेवणसिद्ध, मरुलसिद्ध, एकोरामाराध्य तथा विश्वाराध्य होगा।^{५५} कलचुरि नरेश विजुल के मन्त्री बसव ने तथा एकान्त रामय्या ने भी जैनों का उच्छेद कर वीरशैव मत का प्रचार किया था।^{५६}

इसका मूल सिद्धान्त यह है कि जीव तथा ब्रह्म दोनों ही एक निहित शक्ति से समन्वित रहते हैं। इसी विशिष्टता से समन्वित होने के कारण दोनों का पारस्परिक लाभ होता है अतः इसे शक्ति-विशिष्टाद्वैत का नाम दिया गया है। शिव की इच्छा से स मन्वित इस शक्ति के निर्माणकारी रूप को विमर्श कहा जाता है^{५७} जो संसार रचती है। समस्त संसार के मूल में शिव है और यह संसार पत्र, शाखादि के रूप में स्थित है।^{५८}

इस मत में साधना के उपरान्त जिस आनन्द की प्राप्ति होती है उसे समरस और उस अवस्था को सामरस्य कहा जाता है। यह समरस लिंग तथा अंग के ऐक्य से प्राप्त होता है। लिंग तथा अंग उसी परशिव के दो रूप हैं जिसे 'स्थल' कहा जाता है क्योंकि उसी में चराचर जगत की स्थिति तथा लय है।^{५९} उसके सक्रिय अंश को लिंग भी इसलिये कहा जाता है उसमें संसार का लय और गमन है।^{६०} साधना के बाद महालिंग घन में लीन हो जाता है और उसके लिये सिद्धान्त-शिखामणि में रेणुकाचार्य कहते :

जले जलमिव न्यस्तम् वन्हौवन्हिरिवार्पितः

परे ब्रह्मणि लीनात्मा विभागेन न दृश्यते...(परिच्छेद २०, २)

वीरशैव मत तथा काश्मीर शैव सम्प्रदाय दोनों ही से अपेक्षाकृत पुराने कालमुख के विषय में उल्लेख मिलते हैं जिसका प्रभावक्षेत्र दक्षिण ही था।

शंकर-दिविजय के प्रणेता तथा रामानुजाचार्य ने कालमुखों का जो वर्णन किया है उससे ज्ञात होता है कि वे कपाल में भोजन करते थे, अंग में चिता भस्म का लेपन करते थे, भस्म भक्षण करते थे, गदा धारण करते थे। मद्यपात्र रखते थे और उसी में भगवान को आसीन मानते थे, किन्तु भण्डारकर का मत है कि इस वर्णनों में

समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

कालमुख के भ्रम में कापालिक मत के लक्षण मिलते हैं।^{६१} नान्दीमठ का भी मत है कि कालमुख कापालिक मत से अलग था। उसका राजदर्बारों और पुर-वासियों में प्रचुर सम्मान था। उसकी साधनाएँ इतनी विकृत और गुह्य नहीं थीं। उसके कई मठ और विद्यापीठ थे। कालान्तर में उनके मठों को वीरशैवों ने उत्तराधिकार रूप में प्राप्त किया और फिर वे मठ वीरशैवों के साम्प्रदायिक केन्द्र बन गये।^{६२}

कापालिक सम्प्रदाय इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं कि उसमें इन गुह्य तान्त्रिक सिद्धान्तों का विकास अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया और अत्यन्त गुह्य रूप से उसकी साधनाएँ बहुत दिनों तक चलती रहीं। कापालिक शवरतन्त्र में जो २४ कापालिकों की सूची मिलती है^{६३} उसमें कई कापालिक ऐसे हैं जो वज्रयानी सिद्ध थे तथा कई कापालिक नाथों की सूची में भी पाये जाते हैं।^{६४}

ये कापालिक माहेश्वर के उपासक थे इसका उल्लेख असंग के मध्यान्ता-नुगम शास्त्र में मिलता है।^{६५} कालान्तर में नाथ सम्प्रदाय में इन्हें श्रीनाथ द्वारा भेजे गये वीर दूतों के रूप में परिकल्पित किया गया है। उस समय तक विष्णु चौबीस अवतार ग्रहण कर चुके थे। बारह प्रमुख और बारह गौण। जब उन्होंने कूर्मादि जलचरों और पशुओं की सी क्रीडाएँ कीं और कृष्ण का सा व्यभिचारी रूप ग्रहण किया तो श्रीनाथ ने चौबीस कापालिकों को भेजा और उन्होंने आकर चौबीस अवतारों से तुमुल युद्ध किया और उनके कपाल काट लिये और उन्हें धारण करने लगे। तभी से ये कापालिक कहलाये।^{६६} किन्तु यह अन्तर्कथा गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह की है जो अपेक्षाकृत अत्यधिक नवीन है और सम्भव है यह कथा वैष्णव द्वेष के कारण गढ़ दी गई हो।

इनकी साधनाएँ सम्भवतः इन सभी सम्प्रदायों में सर्वाधिक गुह्य और विकराल हैं। ये उपरोक्त वर्णित कालमुखों की ६ साधनाओं के अतिरिक्त ६ चिन्ह-श्री धारण करते थे। जिनमें एक यज्ञोपवीत भी होता था और एक कर्ण-कुण्डल। इन छः चिन्हों का धारण करने वाला आवागमन से मुक्ति पा जाता है। इनके यहाँ संभवतः दीक्षा को 'व्रत' कहते थे। ये सोम मद्य पीते थे जिससे इनका चित्त जाग्रत होता था, मांस (कभी कभी शव) भक्षण करते थे। कपाली-शक्ति का आलिङ्गन करते थे और श्मशानों में योग साधना करते थे। तान्त्रिक

अनुष्ठान करते थे और भैरव शक्तियाँ जगाते थे, नरबलि देते थे और शिव के भैरव रूप और अघोर मुख के उपासक थे ।^{६७}

भवभूति के मालतीमाधव में बताया गया है कि श्रीशैल कापालिकों का केन्द्र था । उनकी एक योगिनी कपालकुण्डला की माला पहना करती थी । वह राजमहल से मालती को उठा ले जाती है और अपने गुरु अघोरघण्ट की आज्ञा से उसे देवी करालचामुण्डा की मूर्ति के आगे बलि देना चाहती थी । हर्ष-चरित में कापालिक यति भैरवाचार्य का वर्णन मिलता है जिसने राजा पुष्यभूति के साथ श्मशान में जाकर महाकाल-हृदय नामक महामन्त्र का एक करोड़ बार जप किया था । अन्त में काले वस्त्र पहन कर, काली नकाब डाल, काला चूर्ण शरीर में मल कर शव पर बैठ कर कृष्णचतुर्दशी को बेताल-साधना की थी ।^{६८}

इनकी इन घृणित साधनाओं के कारण तथा इनकी रहस्यमयी सिद्धियों के कारण जन साधारण इनसे भय खाता था । इनकी गणना वेदवाह्य मतों में की गई है ।^{६९} ये जाति पाँति का बन्धन नहीं मानते थे । थोड़ी सी विधि सम्पन्न होने से ही साधक ब्राह्मण हो जाता था और कपाल-व्रत लेने पर तो वह सिद्ध हो जाता था ।^{७०}

इनकी साधनाओं के पीछे सोम सिद्धांत की दार्शनिक पीठिका बताई जाती है । कहा यह जाता है कि नर-कपाल में पिये जाने वाले मद्य को ये सोम कहा करते थे और सोम की व्युत्पत्ति स + उमा इस प्रकार बताते थे । इस सोम में शक्तियुक्त शिव का वास है । इसके समर्थन में टुची ने प्रबोध-चन्द्रोदय की तीन टीकाएँ उद्धृत की हैं जो नेपाल के राजगुरु हेमराज शर्मा ने उनके पास भेजी थीं ।^{७१} प्रबोध चन्द्रोदय में सोमसिद्धांत का प्रवेश कापालिक वेश में कराया गया है और कहा गया है कि इस पवित्र अमृत को पीने से पशु-पाश का उच्छेदन होता है और भैरव जाग्रत होते हैं । यह भाव-भेषज रूप है ।^{७२} इस सोम की व्युत्पत्ति रुचिकर टीका में इस प्रकार है कि सह + माया के कारण इसे सोम सिद्धांत कहा जाता है, प्रकाश टीका में कहा गया है कि कपाल में जहाँ ब्रह्म-रन्ध्र, उपलब्ध हो जाता है उसे ब्रह्म-कपाल कहते हैं । उसमें तत्त्वों द्वारा कल्पित चन्द्रमा से भरने वाला सोम या अमृत है । पारणा व्रत की समाप्ति पर उसे पीना चाहिये । चन्द्रिका नाम्नी टीका में यह कहा गया कि जैसे कैलाश पर स्थित उमा सहित शिव आनंद प्राप्त करते हैं उसी प्रकार ईश्वर-वेषधारी रुद्र-रूपधारी साधक कान्ता के सहित

समकालीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

कैलाश पर आनन्द भोग करता है। इसी से उमा सिद्धांत को सोम सिद्धांत कहते हैं।^{७२}

इस सोम-सिद्धांत का उल्लेख बहुत से परवर्ती ग्रन्थों में मिलता है। डा० बागची द्वारा टुची को प्रदत्त अकुलवीर तन्त्र की हस्तलिखित प्रति में 'सोम सिद्धांत वादिनः' का उल्लेख मिलता है तथा न्यायदर्शन में बाह्य सिद्धांतों की गणना में सोम सिद्धांत भी परिगणित है।^{७३}

इस सोम सिद्धांत के अतिरिक्त रसेश्वर सम्प्रदाय का भी उल्लेख मिलता है। यह सम्प्रदाय भी शैव था। इस सम्प्रदाय में शरीर साधना पर और अमरत्व की उपलब्धि पर विशेष बल दिया जाता था। वे कहते थे कि छोड़ो दर्शनों में मृत्यु के उपरांत मुक्ति की उपलब्धि बताई गई है किन्तु जब हमारी मृत्युही हो जाती है, तब मुक्ति की क्या सार्थकता, अतः हमें 'रस' के द्वारा अमर रहने का प्रयास करना चाहिये। यह कहा जा सकता है कि काया तो नाशवान है अतः अमरत्व की साधना कैसे हो। इसके उत्तर में यह कहा गया है कि आत्मा के छः आवरणों वाला यह तन नाशवान है पर पारद और अभ्रक के योग से हर और गौरी द्वारा निर्मित काया अमर होती है। क्योंकि महेश्वर ने स्वयम् कहा है कि 'पारा मेरा वीर्य है और अभ्रक तुम्हारा रज। दोनों के संयोग से हे भगवती, दारिद्र्य और मृत्यु का सदा के लिये विनाश हो जाता है'।^{७४}

रसेश्वर सिद्धांत में कहा गया है कि जाने कितने देवता महेश, शुक्रादि दैत्य, मुनिगण, बालखिल्यादि, सोमेश्वरादि, सम्राट, गोविन्द भागवत्, गोविन्द नायक, कपाली, व्याली, आदि इस रस साधना द्वारा दिव्यशरीर प्राप्त कर चुके हैं।^{७५}

इसकी विधि इस प्रकार बताई गई है कि पहले रस (पारे) का परिशोधन करना चाहिये। पारा मूर्च्छित और बद्ध दो प्रकार का होता है। जिसमें आर्द्रता, प्रगाढ़ता और चमक होती है वह पारा मृत होता है। मूर्च्छित पारे के परिशोधन की अष्टारह विधियाँ गोविन्द भागवत तथा सर्वज्ञ रसेश्वर द्वारा बताई गई हैं। इस विधि में पारा और वायु-तत्व प्राण का व्यवहार होता है। दोनों का उचित मिश्रण रोगों का शमन करता है मृत्यु का अवरोध करता है। बद्ध पारा प्राण में विद्ध होने पर उड्डयन या उड़ने की सिद्धि प्रदान करता है।^{७६}

इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ कब से हुआ इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । सर्वदर्शन-संग्रह में इसका विवरण है, जो चौदहवीं शती का ग्रंथ है । इसमें विष्णु-स्वामी के नृसिंहावतार के दिव्य शरीर को भी उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया गया है इससे भी इसकी अर्वाचीनता प्रमाणित होती है । संभव है यह परम्परा और भी पुरानी हो और बौद्धों तथा शैवों दोनों ही ने उसे एक ही उद्गम से ग्रहण किया हो ।^{७७}

इन पूर्वी प्रदेशों में सबसे प्रचलित तान्त्रिक मत शाक्त-मत था जो आज भी पूर्वी भारत का एक जीवित सम्प्रदाय है । बारहवीं शती के बाद के बहुत से शाक्त तन्त्रों पर बौद्ध साधनाओं का विशेष प्रभाव है । कुछ शाक्त-मत तो शाक्त और बौद्ध तन्त्रों के नाम तक एक ही हैं अम्बर, जल, शम्बर, कालचक्र, महाकाल ।^{७८} लगभग उपरोक्त सभी मत ऐसे हैं जिनमें परम तत्व चाहे वह विष्णु का रूपान्तर हो या रुद्र का, उनकी एक शक्ति की कल्पना की गई है जो सृष्टि की जननी है ।^{७९} यह शक्ति चित्-रूपिणी है, माता रूप है ।^{८०} उसमें विमर्श और संकोचिनी शक्ति है और उसका शिव के साथ जो अनन्त विलास चलता रहता है उसी का प्रतिफलन इस शरीर में, उसकी नाड़ियों में भी चलता है ।^{८१} कुरण्डलिनी उसी अनन्त शक्ति के प्रतीक के रूप में मूलाधार में प्रसृत है और उदबुद्ध हो कर षट्चक्रों का भेदन कर वह ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है जहाँ शिव का वास है ।

तान्त्रिक साधनाओं के आम्नाय के अनुसार कई भेद हैं । स्थूल रूप से ये समस्त आचार दो वर्गों में बटे हैं: दक्षिण तथा वाम ।^{८२} दक्षिणाचार में प्रभात में सन्ध्या, मध्याह्न में जप, उनके आसन पर बैठना दूध शर्करा का पान, रुद्राक्ष की माला धारण करना तथा अपनी पत्नी से सम्भोग करना यह विहित था । वामाचार इसका प्रतिकूल था । नृदन्त की माला, कपाल का पात्र, छोटी कच्ची मछलियों का चर्वण, मांस भक्षण, और सभी जातियों की परस्त्रियों में समान रूप से मैथुन यह वामाचार था ।^{८३} बाड़वानलीय में यह कहा गया है कि दक्षिण मार्ग ब्राह्मण के लिये तथा वाम मार्ग शूद्रों वा अन्य वर्गों के लिये विहित है ।^{८४} उपासना ३ प्रकार की है । सात्विकी, राजसी, तामसी । मेरुतन्त्र में सात्विकी उपासना को मानसी जप, स्मृति, राजसी को प्रतिमा पूजन और तामसी को पशुबलि और वाममार्गी आचारों से समन्वित माना गया है ।^{८५} साधनाओं

समकाजीन बौद्धेतर तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

में गुरु ही दीक्षा का उचित सुहृत् तथा उचित भूमि का विचार करता है।^{१८३}
गुरु द्वारा प्रदत्त रहस्यात्मक मन्त्रों की बड़ी शक्ति है। उनसे सभी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये विभिन्न बीजाक्षरों के समूह होते हैं।^{१८४}

वामाचार में पाँच मकारों का विधान है 'मद्यै माँसैस्तथा मत्स्यै मुद्राभि मैथुनैरपि'। इनके आधार पर भैरवी चक्रों की नियोजना होती थी। उन चक्रों में स्त्री साधिकाएँ तथा साधक मिलते थे और मद्यगान के उपरान्त 'मनोरथ सुखों की परस्पर पूर्ति' होती थी। इस प्रकार के चक्रों में वर्ण और जाति का कोई भेद नहीं रहता था। 'प्रवृत्ते भैरवी चक्रे सर्वे वर्णाः द्विजातयः' जैसे गंगा में मिल कर बाहरी जल, या दूध में मिल कर जल फिर एकात्म हो जाता है उसी प्रकार भैरवी-चक्र में सब उच्च वर्ण के होते हैं।^{१८५} इन चक्रों के तीन भेद होते हैं वीर, राज और देव। राजचक्र में यामिनी, योगिनी, रजकी, श्वपची, कैवर्तक-नारी, ये पाँच शक्ति रूप में व्यवहृत होती हैं। देवचक्र में राजवेश्या, नागरी, गुप्त-वेश्या, देव-वेश्या तथा ब्रह्म-वेश्या ये पाँच शक्तियाँ सम्मिलित होती हैं। नागरी में कोई भी रजस्वला कन्या परिगणित है।^{१८६}

आगमसार में इन पंच-मकारों के सांकेतिक अर्थ दिये गये हैं :

मद्यः सोमधारा क्षरेद् पातु ब्रह्मरन्ध्रात् वरानने
पीत्वानन्दमयीम् तां यः स एव मद्यसाधकः

मांसः मा शब्दात् रसनाज्ञेया तदंशान् रसना प्रियेः
सदा यो भक्षयेद्देवि स एव मांस-साधकः

मत्स्यः गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा
तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः

मुद्राः सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिका चरेत्
आत्मा तत्रैव देवेशि केवलम् पारदोपमम्
अतीव कमनीयम् च महाकुण्डलिनी युतम्
यत्र ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रा साधक उच्यते

मैथुनः मैथुनम् परमतत्त्वं सृष्टि स्थित्यन्त कारणम्
मैथुनात् जायते सिद्धि ब्रह्मज्ञानम् सुदुर्लभम्

इससे ज्ञात होता है कि इन साधनाओं के सांकेतिक अर्थ भी थे। इसी-लिये इसे खड़ग-धार सा सूक्ष्म पथ बताया गया है और कहा गया है कि यदि केवल मद्यपान करने से व्यक्ति सिद्ध हो जाता तो सभी मद्यपियों को सिद्धि मिल

जाती, यदि स्त्री सम्भोग से मुक्ति मिलती होती तो कौन बचता । वास्तव में यह प्रथम बाघ के कान पकड़ने या खड़ग की धार पर चलने से भी ज्यादा कठिन है । ९०

इन मतों के अतिरिक्त जैनों में भी शाक्त-दर्शन और तान्त्रिक साधनाओं का विकास हुआ था किन्तु वह साहित्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है । एक जैन तान्त्रिक सम्प्रदाय का उल्लेख कित्संग ने अवश्य किया है । असंग के मध्यान्तानुगम शास्त्र के चीनी अनुवाद में जिस न-य-सि-मो सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है, उसे प्रोफेसर उई ने न्याय शास्त्र बताया है किन्तु कित्संग उससे किसी जैनी तान्त्रिक सम्प्रदाय का अर्थ लेता है जो निर्ग्रन्थ ९१ जैनियों की एक शाखा थी । उसकी दो प्रकार की साधनाएँ थीं; आठ साधनाएँ जो श्रुतज्ञान से आई थीं ज्योतिष, गणित, ओषधि, मन्त्र, श्रक, यजु, साम तथा अथर्व तथा आठ साधनाएँ अनुभवजनित । प्रथम नक्षत्र, देवता, ग्रह की पूजा, द्वितीय ऋषि-सुलभ तपस्या और षट्कर्म जो गुह्य थे और तान्त्रिक थे । ९२

बौद्ध तन्त्र-सम्प्रदाय, मन्त्रयान, तन्त्रयान, वज्रयान (या सहजयान) आदि भी इसी विराट तान्त्रिक वातावरण से ही उद्भूत थे जो सारे भारत पर छाया हुआ था । वह महायान के अंतर्गत था अतः उसने इन सम्प्रदायों की तान्त्रिक साधनाओं की व्याख्या और विश्लेषण महायानीय मूलभूत एकता शब्दावली में किये अन्यथा मूलतः इन सभी तान्त्रिक सिद्धान्तों में एकसूत्रता थी । और उसे ये भी पहचानते और मानते थे तथा एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय की प्रमुख साधनाएँ गौण रूप में और कभी कभी गौण साधनाएँ प्रमुख रूप में अपना भी लेते थे । इनकी साधनाओं, देवी देवताओं, अभिचारों तथा पौराणिक सिद्ध पुरुषों में तथा सिद्धान्तों में मुक्त विनिमय हो रहा था । इसीलिये महायान ने बहुत कुछ अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन तन्त्रों से ग्रहण किया जैसा हम अगले अध्याय में देखेंगे और साथ ही लुप्त होते हुए सहजयान ने भी अपनी आगामी परम्परा पर अक्षुण्ण प्रभाव छोड़ा । कुछ विद्वानों का कथन है कि वज्रयान तथा हिन्दू तान्त्रिक साधनाओं में बहुत सी पद्धतियाँ साथ साथ और समानान्तर ही विकसित हुई हैं । ९३ रसेश्वर सम्प्रदाय का अमर शरीर और वज्रयान की वज्र-काया, कापालिकों का सोम और

समकालीन बौद्ध-तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

सिद्धों की वारुणी, लिंगांग सानरस्य और सिद्धों का प्रहोवाय दुर्गनद, सिद्धों की सहज-साधना और विष्णु पुण्य की सहजासिद्धि ^{१४} लगभग एक ही काल में, ८ वीं से १२ वीं शती हिन्दू तथा बौद्ध दोनों ही सम्प्रदायों में मिलती हैं। उसमें समय का अन्तर कम है और इतनी कम सामग्री प्रकाश में आई है कि कौन पहले विकसित हुआ वह निर्णय नहीं दिया जा सकता।

इस मूलभूत एकता को दक्षिणस्थी ब्राह्मण तथा हीनयानी बौद्धों के बजाय तान्त्रिक बौद्ध और तान्त्रिक हिन्दू अधिक सुककरुण्ड से स्वीकार करते थे। पञ्च-तन्त्र में पूर्वोक्त उल्लेखों के अतिरिक्त यह भी उल्लेख मिलता है कि भगवान ने विष्णु रूप में संहिताग्रंथों का उपदेश करने के अतिरिक्त ब्रह्म रूप में योग, कपिल रूप में सांख्य, बुद्ध रूप में शून्यवाद तथा ऋषभ रूप में अर्हत् शास्त्र का भी उपदेश किया था। ^{१५} बाद में कौलावली-निर्णय में भी इनकी एकता प्रतिपादित की गई। ^{१६} हनुमन्नाटक की वन्दना में भी शिव, ब्रह्म, अर्हत् तथा बुद्ध को एक माना गया। ^{१७} वास्तव में परवर्ती वैष्णव परम्परा में बुद्ध को अवतार मान लिया गया इसका सूत्र यही तान्त्रिक भावना थी जिसमें साधना प्रमुख थी और देवता गौण तथा साधना की एकता और सारूप्यता के कारण देवताओं की विभिन्नता पर ध्यान नहीं दिया गया।

बौद्धों ने भी हिन्दू देवता अपनाये। गणेश, सरस्वती, कभी कभी विष्णु भी उनके तन्त्रों में मिलते हैं। करण्ड-व्यूह में बोधिसत्व अवलोकितेश्वर यह कहते हैं कि वे शिव, विष्णु, गणेश, राजा और माता पिता का भी रूप धारण करेंगे और लोक का त्राण करेंगे। ^{१८} इस प्रकार उसी समय हिन्दू और बौद्ध तान्त्रिकों में एकसूत्रता की जागरूक चेतना थी किन्तु अपने अपने देवताओं और मन्त्रों तथा तत्त्वदर्शन के प्रति सभी सम्प्रदायों में उत्साह था और वे किसी से पीछे नहीं रहना चाहते थे। इस उत्साह के होते हुए भी वे सदैव दूसरे सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता दिखाते हों ऐसा चित्रण सर्वथा अनैतिहासिक होगा। किन्तु यदि उन सम्प्रदायों की साधना-वृद्धि लगभग समान हो तो धार्मिक विद्वेष उतना प्रबल नहीं होता था। उदाहरण के लिये बौद्ध साधनाग्रंथों में शिव का काल रूप वेशान्तर में कालचक्र में प्रविष्ट हुआ है। कापालिकों की साधना को काणहपा ने बौद्ध रूप में अपनाया है और नाथ रूप में बुद्ध की भी प्रतिष्ठा की गई। शैव तथा शाक्त मत बौद्ध तान्त्रिकों द्वारा उतने उपेक्षणीय नहीं रहे जितना वैष्णव

मत और कालान्तर में कौल सम्प्रदाय तो बौद्ध तथा शैव तन्त्रों के सम्मिश्रण से ही बना ।

किन्तु लगता है बाद में कुछ साम्प्रदायिक विद्वेष अधिक बढ़ गया और विष्णु को तथा ब्रह्म को स्थान स्थान पर बौद्ध तन्त्रों में अपमानित करने का प्रयास किया गया है । 'हरि हरि हरि वाहनोद्भव साधन' में विष्णु को बौद्ध देवता का वाहन बताया गया है । इसी प्रकार वज्रज्वालानलार्क को लक्ष्मी सहित विष्णु को कुचलते हुए चित्रित किया गया है । ज्ञात होता है कि कालान्तर में बौद्धों तथा हिन्दू सम्प्रदायों में साम्प्रदायिक विद्वेष अधिक बढ़ा और अपने देवताओं को ऊँचा सिद्ध करने के लिये ऐसी कथाएँ और प्रतिमाएँ कल्पित की गईं । विष्णु पर विशेष आक्रोश का कारण संभवतः वैष्णव धर्म की बढ़ती हुई शक्ति थी । किन्तु यथास्थान ब्रह्म, शिव, कन्दर्प, कुबेर को भी छोड़ा नहीं गया है ।^{१९}

देवताओं के विषय में यह मतभेद होते हुए भी साधनापद्धति में आदान प्रदान कभी भी बन्द नहीं हुआ । जैसा हम अगले अध्याय में देखेंगे कि थोड़े नाम-भेद से हिन्दू तन्त्रों के सभी सिद्धान्त वज्रयान में तथा उसकी विकसित शाखाओं में मिलते हैं ।

इन सभी तन्त्रिक सम्प्रदायों की सामान्य प्रवृत्तियों को हम इस प्रकार अंकित कर सकते हैं ।

१. प्रत्येक सम्प्रदाय के देवता, मन्त्र और तत्त्व-दर्शन की सामान्य शब्दावली अलग होते हुए भी साधनापद्धति की सामान्यता प्रवृत्तियाँ थी । नई साधना-पद्धतियों का एक दूसरे सम्प्रदाय में उन्मुक्त आदान प्रदान होता था ।

२. तत्त्वदर्शन गौण था, साधना, क्रिया और चर्या प्रमुख थीं । साधना में गुरु का अत्यधिक महत्व था और यह साधना शिव-शक्ति, लिंग-अंग, रस-अभ्रक, प्रज्ञा और उपाय आदि किन्हीं दो पुरुष तथा स्त्री प्रतीकों के अद्वय की साधना थी ।

३. लगभग सभी सम्प्रदायों में इस साधना की मिथुन-परंक व्याख्या मिलती है और उसके साथ गुह्य आचार्यों का भी विधान मिलता है ।

४. इस साधना में जाति पांति वर्ण का कोई भेद नहीं था ।

५. इस साधना में शक्ति प्रधान होने के कारण स्त्री का विशेष महत्व था ।

समकालीन बौद्धैतर तान्त्रिक धर्म-साधनाएँ

६. ब्रह्माण्ड में जो शिव तथा शक्ति थे वे ही शरीर में कुण्डलिनी और सहस्रार, या कमल और कुलिश के रूप में विद्यमान थे अतः योगसाधनाओं का विधान था और देह को बहुत महत्वपूर्ण समझा जाता था ।

७. मिथुन-साधना तथा योग के कारण निरूपण शैली प्रतीकात्मक है ।

८. लोक देवताओं और उनके पूजन की असंस्कृत विधियों का सम्मान और उन्हें वैदिक देवताओं से भी बड़ा सिद्ध करने की चेष्टा होती थी ।

९. वेदों का असम्मान या उनकी समकक्षता प्राप्त करने का प्रयास और ब्राह्मणों (रूढ़िवादी) की उपेक्षा होती थी ।

१०. मरणोपरान्त मुक्ति अथवा निर्वाण की अपेक्षा साधना के द्वारा जीवनकाल में ही विभिन्न प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सिद्ध बनना; रसेश्वर, कापालिक, शाक्त तथा वज्रयानी, सभी पद्धतियों में सिद्ध मान्य हैं ।

किस प्रकार बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म-साधना की परिधि का विस्तार हो रहा था और किस प्रकार महायान ने उसको सर्वथा नये स्तर पर प्रतिष्ठित कर दिया था इस पर हम विचार कर चुके हैं । तन्त्रों की इन सामान्य प्रवृत्तियों को बौद्धों ने भी उत्साह पूर्वक ग्रहण किया और उन्हीं से समन्वित शाखा वज्रयान के नाम से अभिहित हुई । विचारणीय यह है कि ये तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ बौद्ध धर्म में कब से समाविष्ट होने लगीं ।

ग

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक
प्रवृत्तियों का प्रवेश
तथा वज्रयान का विकास

बौद्ध-धर्म में वैयक्तिक निर्वाण के स्थान पर महत्करुणा और लोकहित की जो भावना प्रचल हो रही थी क्या उसका कोई सम्बन्ध बौद्ध-धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों के प्रवेश से है या नहीं ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि धीरे-धीरे बौद्ध धर्म में महायान की पारमिता पद्धति की अपेक्षा मन्त्रनय पद्धति को इसीलिये अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि वह अपेक्षाकृत सरल और लोक-तारण के लक्ष्य के अधिक अनुरूप है।^१ कालान्तर में वे चाहे जितनी विकृत हो गई हों किन्तु उनके मूल में लोक-कल्याण की भावना अवश्य थी इसके बहुत से स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। आर्यदेव जिनका समय लगभग ८ वीं शती (यदि वे सिद्ध आर्यदेव नहीं हैं तो !) माना गया है,^२ स्पष्ट लिखते हैं कि बोधिचित्त का समुत्पाद जगत के उद्धरण के आशय से ही किया जाना समुचित है।^३ 'डाकार्खव' नामक अपभ्रंश के तन्त्र ग्रन्थ में भी साधक को सकल त्रिभुवन का उत्तारक बनने का उपदेश दिया गया है।^४ 'सेकोद्देश टीका' में भी यही लक्ष्य मिलता है।^५ कालान्तर में मन्त्रनय को पारमितानय से उत्कृष्ट सिद्ध करने के पक्ष में यह भी तर्क दिया जाने लगा कि यह सर्वोपसेव्य नहीं है और केवल तीक्ष्ण बुद्धि वाले इसे ग्रहण कर पाते हैं^६ किन्तु फिर भी मन्त्रनय लोक-कल्याण और व्यापक प्रभाव के ही हेतु विकसित हुआ था इसका प्रमाण यह भी है कि पारमितानय की अधिकांश कृतियाँ संस्कृत में रही हैं जब कि मन्त्रनय में देशी भाषा को भी समकक्षता

बौद्ध-धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

दी गई है^७ और यहाँ तक कि मन्त्रनय (वज्रयान) के संस्कृत ग्रन्थों में और टीकाओं में यथास्थान अपभ्रंश के पद प्रमाण रूप में उद्धृत किये गये हैं।^८ लोक-कल्याण के हित प्रवर्तित वज्रयान में लोकभाषा की प्रमुखता मिलना स्वाभाविक है।

किन्तु यह सारी तान्त्रिक साधनाएं और उनके मैथुन-परक रूप केवल लोक-कल्याण मात्र के लिये थे, ऐसा विचार एकांगी होगा। उसके पीछे बौद्ध संघ का संयम और शुद्धतावाद के प्रति आचारगत विद्रोह भी बुद्ध के समय में था और कहीं-कहीं उसकी अतिशयतागत विकृति भी, किन्तु चमत्कार उसके लोकमत्त का भी महत्व कम नहीं है। अब यह प्रश्न आता है कि बौद्ध धर्म में पहली बार इन साधनाओं का प्रवेश कब और किसके द्वारा हुआ। बौद्ध धर्म अपने मूल रूप में तो बुद्धि और तर्क-प्रधान धर्म था। उसमें योग-साधना का विशेष महत्व नहीं था^९ और उसके मर्यादित नियमानुशासित रूप में वज्रयान की गुह्य मिथुन साधनाओं की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। ये प्रवृत्तियाँ पुरातन काल से भारतीय जनता में प्रचलित थीं और बुद्ध के समय में भी इनका उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि छठीं शती ई० पू० में दार्शनिक और धार्मिक स्तर पर इतने वादविवाद, तर्क और वितर्क चल रहे थे कि सामान्य जनता में अन्वविश्वास और जादू टोने की अभिवृद्धि अनिवार्य थी।^{१०} प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में भी इस प्रकार की सिद्धियों अथवा इन्द्रियों का उल्लेख मिलता है। विनयपिटक में भट्टीशनगर के मेण्डक नामक एक सद्गृहस्थ का उल्लेख मिलता है जिसका सम्पूर्ण परिवार इस प्रकार के सिद्धिगत चमत्कार कर सकता था और मगध के महाराज सेनीय बिम्बिसार ने अपने प्रतिनिधियों को इन चमत्कारों की वास्तविकता का पता चलाने भेजा था।^{११} इसी प्रकार ब्रह्मजाल तुत्त में भी बहुत सी ऐसी चमत्कारपूर्ण विद्याओं का उल्लेख है जो बुद्ध द्वारा 'तिरच्छान' समझी जाती थीं।^{१२}

इस प्रकार की इन्द्रियों का प्रचलन स्वतः बुद्ध के शिष्यों में भी था। अंगुत्तरनिकाय में सारिपुत्त के पश्चात् सर्वप्रमुख शिष्य भोगलायन को इन इन्द्रियों में सिद्ध माना गया है।^{१३} पिरडोल भारद्वाज की कथा बहुत मनोरंजक है। राजगृह के किसी सेट्टी ने एक चन्दन पात्र बाँसों के सहारे अक्षर में ढँगा कर घोषणा की कि जो ब्राह्मण या श्रमण इन्द्रियों को सिद्ध कर चुका हो वह इसे

उतार ले । पूर्ण कात्सप, मकखलिगोसाल, अजित केश कम्बली, पांडुक काच्चायन, संजय वेलट्टिपुत्त और निग्गन्थ नातपुत्त ये सभी बुद्ध के प्रतिद्वन्द्वी असफल होकर लौट आये तब मोग्गल्यायन और पिण्डोल भारद्वाज भी एक बार चमत्कार दिखाने के लिये गये और भारद्वाज ने ऊपर उड़कर वह पात्र उतार लिया और तीन बार राजगृह पर उड़े । समस्त पुरवासी आश्चर्य और आह्लाद से विभोर हो गये।^{१४} स्वतः बुद्ध ने दस्यु अंगुलिमाल के सम्मुख एक ऐसा स्वरूप धारण कर लिया था जो अपराजेय था ।^{१५} इसके आधार पर डा० विनयतोष भट्टाचार्य का यह मत है कि स्वतः बुद्ध भी इस जादू टोने में विश्वास करते थे और अपने मत के कुशल प्रचारक और नियामक के रूप में उन्होंने इन प्रवृत्तियों को प्रमुख स्थान दिया था ताकि उनका मत लोकप्रिय बन सके । यद्यपि स्वतः वे इन इन्द्रियों की सार्थकता में विश्वास करते थे या नहीं इसमें सन्देह है ।^{१६} सर चार्ल्स ईलियट का भी झुकाव इसी मत की ओर है ।^{१७}

किन्तु उपरोक्त विद्वानों का यह मत प्रामाणिक नहीं ठहरता । इसका प्रथम कारण यह है कि बुद्ध ने स्थान स्थान पर स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार के चमत्कारों को निन्दनीय ठहराया है । पिण्डोल भारद्वाज के चमत्कार की कथा सुनने के उपरान्त उन्होंने पिण्डोल भारद्वाज की भर्त्सना की और नियम बना दिया कि जो भिक्षु इस प्रकार के चमत्कार प्रदर्शित करे उसे दंड दिया जाय ।^{१८} दीघनिकाय में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि “मैं इन इन्द्रियों और चमत्कारों के प्रदर्शन में अमंगल के चिह्न देखता हूँ, अतः मैं इनसे घृणा करता हूँ और इन पर मुझे ग्लानि होती है” ।^{१९} उन्होंने यह भी कहा कि इन्द्रियों के स्वामी तो बुरे लोग भी हो सकते हैं । कहा जाता है कि देवदत्त भी इन्द्रियों को सिद्ध कर चुका था अतः उन्होंने चार इन्द्रिपादों का उपदेश किया जो भौतिक चमत्कार की अपेक्षा चित्त-निग्रह और ज्ञानोपलब्धि में सहायक थे ।^{२०} प्रतीत यह होता है कि बुद्ध की दृष्टि में इन चमत्कारों के प्रति जो उपेक्षा थी वह उनके शिष्यों में नहीं थी क्योंकि उनकी मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद उन्होंने ऐसी कथाओं का यथास्थान समावेश कर दिया जिनमें बुद्ध भी इन चमत्कारों का उपदेश देते हैं । इसी प्रकार का एक उपदेश दीघनिकाय का आटानाटीय सूत्र है जिसमें श्वभ्रकूट पर तथागत की उपस्थिति में उनकी सहमति से वैश्रवण ने आटानाटीय रत्ना पढ़ी और यह कहा कि अमनुष्यों के संकट से यह रत्ना करेगी । राहुल जी के मत से यह सूत्र प्रक्षिप्त है और जब यह पिटक लंका में लिपिबद्ध किया गया

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

उस समय इसका समावेश कर दिया गया।^{२२} स्थविरिपिटक तो लिखे जा चुके थे अतः उनमें ऐसे प्रक्षेप अधिक नहीं आ सके किन्तु महायान सूत्रों में बाद में ऐसी प्रवृत्तियाँ अधिकाधिक आती गईं और उनका प्रचार बढ़ता गया और कालांतर में उन्होंने महायान का पूरा रूप ही बदल दिया।^{२२} वज्रयान तथा कालचक्रयान के ग्रंथों में तो स्वतः भगवान तथागत को ही तंत्रों का उपदेश मान लिया गया और उनके दीपंकर रूप की कल्पना की गई जिसमें उन्होंने तंत्रों का उपदेश किया था।^{२३} किन्तु यह सभी बाद में तन्त्राचार्यों द्वारा की गई कल्पनाएँ थीं ताकि वे तंत्रमार्ग को बुद्ध द्वारा सम्मत सिद्ध कर सकें।

बौद्ध अनुश्रुतियों में योगाचार सम्प्रदाय से तान्त्रिक साधनाओं का उद्भव स्वीकार किया गया है। कहा यह जाता है कि योगाचार के प्रथम आचार्य असंग (४००-५०० ई०) को तुषित नामक स्वर्ग में मैत्रेय नामक बुद्ध योगाचार और तन्त्र ने इन तन्त्राचार्यों में प्रथम दीक्षा दी थी।^{२४} वैडेल की धारणा है कि योगाचार सम्प्रदाय में लगभग ७०० ई० सन्

में इन्द्रियों, धारणियों तथा तन्त्राचार्यों का समावेश हुआ।^{२५} वैडेल का मत सम्भवतः विण्टरनीत्ज^{२६} और कर्न^{२७} के मतों पर अवलम्बित है। योगाचार से मन्त्रयान का घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह तो साधन-माला से स्पष्ट है जहाँ एकाधिक बार योगाचार को स्मरण किया गया है।^{२८} डुची का मत है कि ७०० ई० से पहले ही तंत्रों का विकास हो चुका था क्योंकि महामयूरी, विद्यारंजनी तथा सुवर्णप्रभा सूत्र आदि कई तान्त्रिक बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद पाँचवीं शती में ही हो चीनी भाषा में हो चुका था। इतना ही नहीं, वे तो मैत्रेय को भी केवल अलौकिक व्यक्तित्व न मान कर लौकिक मानुषी आचार्य मानते हैं। इस पक्ष में उन्होंने जापानी बौद्ध विद्वान प्रोफेसर उई का मत प्रस्तुत किया है। 'मध्यान्त-विभाग' पर स्थिरमति की टीका में तथा हरिभद्र के 'अभिसमया-लंकारालोक' में भी उन्होंने मैत्रेय के मानुषी रूप की ओर संकेत किया है।^{२९} यद्यपि इतना प्रमाण असंग के ही समय में तन्त्राचार्यों के समावेश को स्वीकार करने के लिये यथेष्ट नहीं है किन्तु स्वतः असंग के 'महायान-सूत्रालंकार' में तंत्रों की मैथुनपरक साधना के कुछ स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। तथागत के विभुत्व के भेदों का निदर्शन करते हुए उसने परावृत्ति शब्द का प्रयोग किया है^{३०} पंचेन्द्रियपरावृत्ति, मानसपरावृत्ति, सार्थाग्रहपरावृत्ति, विकल्पपरावृत्ति और

अन्ततोगत्वा मैथुनपरावृत्ति के कारण उनमें पाँच प्रकार की विभुताएँ समाश्रित हैं। प्रो० लेवी ने 'मैथुनस्यपरावृत्ति' का अर्थ 'मैथुनक्रिया में परावृत्ति' इस प्रकार किया है और स्पष्टतः उसे तान्त्रिक संकेतों से पूर्ण बताया है।³¹ विण्टर-नित्ज का इससे मतभेद है और शुद्धसमाजतन्त्र की समीक्षा करते हुए उन्होंने इसे 'मैथुन का तिरस्कार' इस अर्थ में लिया है।³² किन्तु वागची ने परावृत्ति को दश धर्मभूमियों में आठवीं अचला से सम्बन्धित करते हुए उसका अर्थ यह लिया है कि बुद्ध इसी प्रकार का आनन्द चित्तवृत्तियों के माध्यम से उपलब्ध करते थे जैसा मैथुन में प्राप्त होता है। डा० वागची का अर्थ अधिक प्रामाणिक ज्ञात होता है³³ और इस प्रकार हम देखते हैं कि असंग द्वारा तान्त्रिक पद्धति अंशतः ग्रहण कर ली गई थी यद्यपि वह इतनी प्रमुख नहीं थी।

कुछ बौद्ध अनुश्रुतियाँ असंग के भी पूर्व नागार्जुन को तन्त्रों का प्रथम प्रवर्तक बताती हैं। उनके अनुसार दक्षिण भारत में लौहस्वरूप में भगवान् वैरोचन ने वज्रसत्त्व नामक बोधिसत्त्व के माध्यम से नागार्जुन माध्यमिक सम्प्रदाय को तान्त्रिक दीक्षा दी थी।³⁴ किन्तु किसी समर्थ प्रमाण और तन्त्र के अभाव में इसे स्वीकार करना कठिन है। यह आवश्यक है कि सिद्ध काल में कई वज्रयानी आचार्यों ने, विशेषतः अवधूतीपा अद्वयवज्र ने अपने कई ग्रन्थों में माध्यमिक सम्प्रदाय को योगाचार की तुलना में विशिष्ट बताया है।³⁵ किन्तु अद्वयवज्र की विशेष स्थिति थी जिस पर हम बाद में विचार करेंगे।³⁶

जब तक कि मैत्रेय के अस्तित्व का कोई पुष्ट प्रमाण न मिले तब तक यही स्वीकार करना होगा कि बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का सर्वप्रथम प्रयोग मन्त्रों के रूप में हुआ। आठानाटीय सूत्र की प्रक्षिप्त सन्त्र, यन्त्र तथा कथा से भी यही ज्ञात होता है। यद्यपि स्थान स्थान पर वज्र-देवशृङ्खला का विकास यानी ग्रन्थों में हमें इन मन्त्रों के प्रथम उपदेष्टा के रूप में बुद्ध का उल्लेख मिलता है।³⁷ किन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं कि यह बाद की कल्पनाएँ हैं। किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि महायान के पूर्ण विकास के पहले स्थविरवादियों में ही ये मन्त्र धरणियों के रूप में प्रविष्ट हो चुके थे और उन्होंने धरणियों को अपने साहित्य में स्थान देना प्रारम्भ कर दिया था।³⁸ ये धरणियाँ सूत्रों के संचितीकरण थे और जो साधक कि सभी

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

सूत्रों को नहीं समझ सकते थे उनकी सुविधा के लिये छोटी छोटी धरणियाँ रची गईं।^{३९} बहुत पहले ही पूर्वोक्त १८ बौद्ध सम्प्रदायों में लम्बे लम्बे सूत्र लिखे गये थे। बाद में ईस्वी शती के लगभग उन सबों का धरणी रूप में संक्षिप्तीकरण किया गया और उनके पहले ओम् और बाद में स्वाहा लगा कर उन्हें सिद्धि, रक्षा, उपासना और सुख का साधन मान लिया गया।^{४०} कालान्तर में यही धरणियाँ तान्त्रिक प्रभाव में मन्त्र और बीजाक्षर रूप में परिवर्तित हो गईं। इसका एक उदाहरण डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने दिया है। प्रख्यात अष्ट साहसिका प्रज्ञापारमिता का सभी साधकों द्वारा पढ़ा जाना कठिन था। किन्तु उसके पाठ का बहुत बड़ा फल बताया गया है। अतः उसे पहले शतश्लोकी प्रज्ञापारमिता और बाद में प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र में संक्षिप्त किया गया। उसे भी दुस्तर जान कर प्रज्ञापारमिता धरणी बनी और अन्त में वह धरणी मन्त्र रूप में परिवर्तित हो गई। फिर उस मन्त्र को भी 'ग्रं' नामक बीजाक्षर में धनी-भूत कर दिया गया। यह बीजाक्षर स्वतः समस्त प्रज्ञापारमिता साहित्य की पुंजीभूत ध्वनि है और इसके जप से शून्य स्वतः प्रज्ञापारमिता देवी के रूप में प्रगट हो सकता है।^{४१} इस प्रकार के बहुत से बीजाक्षरों की कल्पना मिलती है। वैरोचन का 'अ', अक्षोभ्य का 'य', रत्नसंभव का 'र', अमिताभ का 'भ', अमोघसिद्धि का बीजाक्षर 'ल' था।^{४२} इन अक्षरों में देवताओं की कल्पना के पीछे मीमांसकों का शब्द-सिद्धान्त था,^{४३} जिसमें कहा गया है कि शब्द शाश्वत है, अक्षर रूप में वर्णमाला में सदैव विद्यमान रहता है। अर्थ की स्थिति शब्द में है, शाब्द में नहीं, अर्थ शब्द की ही विवृति है और इसीलिये तन्त्रों में लगातार शब्द-ब्रह्म की कल्पना मिलती है जिससे समस्त मानवों और देवों की सृष्टि हुई है।^{४४}

इन मन्त्रों के साथ साथ इनकी रेखात्मक अभिव्यक्तियाँ यन्त्र और कवच रूप में वज्रयान में प्रचलित हो चुकी थीं। ये मन्त्र भी देवताओं की अभिव्यक्तियाँ होते थे और धातु, या कागज या भोजपत्र पर अंकित किये जाते थे।^{४५} इनके साथ साथ मुद्रा की भावना भी विकसित हो चुकी थी और मुद्रा अंगुलि-निर्देश के साथ मन्त्र कहने से समाधि की अवस्था प्राप्त होती थी।^{४६} कालान्तर में मुद्रा या महामुद्रा प्रज्ञा तथा उसकी अभिव्यक्ति नारी शक्ति मात्र को कहा जाने लगा जिनके समागम से सिद्धि मिलती थी, पर मन्त्रों से सम्बद्ध मुद्राएँ अवलोकितेश्वर द्वारा प्रहीत पद्म, शंख, वज्र आदि को धारण करने वाली उंगलियों की मुद्राएँ थीं।^{४७}

इन मन्त्रों को किसी न किसी देवता से सम्बद्ध माना गया था और जैसे ये मन्त्र वस्तुओं के धर्मों की शून्यता की ओर संकेत करते थे, वैसे ही वे देवता भी शून्य के प्रतिबिम्ब थे।^{४८} इसके लिये अद्वयवज्र ने ४ अवस्थाओं का संकेत किया है। शून्यता-ज्ञान से बीज, बीज से बिम्ब, बिम्ब से न्यास-विन्यास और न्यास-विन्यास से देवता का बाह्य रूप परिकल्पित होता है।^{४९} मन्त्रयान में देवताओं के विभिन्न रूपों का विस्तृत विधान मिलता है। महायानी सम्प्रदायों में पाँच स्कन्ध, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान माने गये हैं। ये वस्तुओं के समान धर्मों के पुंज हैं। किन्तु हैं वे सब शून्य। शून्य-धर्मों के इन पाँच स्कन्धों के आधार पर पाँच ध्यानी बुद्धों की परिकल्पना विकसित हुई।^{५०} ये पाँच ध्यानी बुद्ध थे वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य। तान्त्रिक पद्धति के अनुसार इनकी पाँच भार्याओं या शक्तियों की भी कल्पना की गई—मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति, वज्ररति, द्वेषरति। ये पंच भार्याएँ या रतियाँ पंच कुलों को उत्पन्न करती थीं मोह, ईर्ष्या, राग, वज्र और द्वेष। न्यास-विन्यास के अनुरूप इनके रंग, चिह्न, वर्ण, अक्षर, भूत, और शक्तियों के भी चिह्न परिकल्पित किये गये।^{५१} इसके पूर्व भी त्रिकाया के अनुसार वैरोचन, ध्यानी-बोधिसत्व और शाक्य-मुनि का रूप विकसित हो चुका था और उनके समवेत स्वरूप तथागत या अमिताभ का रूप परम-रूप था और वे अपने परम-रूप में सुखावती नामक लोक में पश्चिम दिशा में निवास करते थे।^{५२} इन समस्त ध्यानी बुद्धों की जो मूर्तियाँ मिलती हैं उनमें विशेष समाधि और सुद्रा भी रहती है। कालान्तर में इनकी युगनद्ध मूर्तियाँ भी बनने लगीं जिनमें वे अपनी शक्तियों के साथ सम्भोग करते हुए प्रदर्शित किये गये।^{५३} इनके कुल के देवता जो इनसे उद्भूत होते हैं उनके किरीट पर अपने कुल-पिता ध्यानी-बुद्ध की छोटी सी मूर्ति बनी रहती है।^{५४} इस प्रकार समस्त वज्रयानी देवशृंखला इन्हीं ध्यानी बुद्धों से उद्भूत हुई है।

डा० भट्टाचार्य ने इस मन्त्रयान को वज्रयान की एक प्रशाखा माना है और वज्रयान को सहजयान आदि से अलग माना है जो नितान्त भ्रमात्मक है।^{५५} जैसा हम देख चुके हैं कि समस्त बौद्ध तान्त्रिक पद्धतियों को मन्त्रयान के समवेत नाम से पुकारा जाता रहा है और उसे पारमितानय से अलग माना

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

गया।^{५६} सहज-साधना और कालचक्र पद्धति के विकसित होने के बाद भी

मन्त्रयान संज्ञा का तिरस्कार नहीं हुआ और अद्वयवज्र तथा वज्र की कल्पना सिद्ध लोग भी मन्त्रयान नाम को स्वीकृत करते थे।^{५७} किन्तु और वज्रयान कुछ ही दिनों में हम देखते हैं कि मन्त्रयान का यद्यपि तिरस्कार का नामकरण तो नहीं होता पर वज्र की एक सर्वव्यापी कल्पना बौद्ध तन्त्रों

में विकसित होने लगती है और वह देव-कल्पना, बोधिचित्त-साधना, समाधि सभी पर आच्छादित हो जाती है। पहले प्रज्ञापारमिताओं में वज्रोपम समाधि^{५८} वज्री^{५९} आदि का उल्लेख है और उसके बाद तो स्वतः शून्य को वज्र की संज्ञा मिल जाती है। फिर वज्रसत्त्व, देवता का वज्र-स्वभाव, शून्यज्ञान को वज्रज्ञान, उपाय को वज्र, योग को वज्रयोग, मन्त्रों को वज्र-वर्ण, और शक्तियों को वज्रवाराही, वज्ररूपिणी, वज्रमोहिनी कहा जाने लगता है और उनकी उपासना में तिल, यव, आसन, ध्वज, पात्र, अक्षत, अंजलि, पंचामृत सभी वज्र-सिक्त होने चाहिये।^{६०} कालान्तर में यह वज्र-कल्पना इतनी प्रमुख हो गई कि उसने मन्त्र, देवता, साधना सभी पर अपनी छाप डाल दी और इसका नया वज्र-समन्वित नाम वज्रयान पड़ गया। वज्रयान मन्त्रयान का उत्तराधिकारी कोई नवीन तान्त्रिक सम्प्रदाय नहीं था। केवल वज्र की नवीन कल्पना के आधार पर मन्त्रयान का नया नामकरण था और उसमें उसने कई नवीन तत्त्व जोड़ दिये थे जिनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध वज्र से था।

किन्तु इस वज्र का प्रयोग सिद्ध लोग शून्य के अर्थ में करते थे। दृढ़ता, अच्छेद्यता, अमेद्यता आदि वज्र के लक्षण शून्यता में हैं अतः वही वज्र है^{६१} इसी शून्यता या नैरात्म्य दर्शन को वज्रयानियों ने वज्रयान की संज्ञा दी? और उसी को प्राप्त कराने वाले मार्ग को वज्रयान कहा। किन्तु यह वज्रयान महायान या मन्त्रयान से अलग नहीं था केवल अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करने का वज्र-प्रधान मार्ग था।^{६२}

वज्रयान की इस केन्द्रीय कल्पना वज्र के शून्य स्वभाव को समझ लेने के उपरान्त अब यह प्रश्न उठता है कि वज्र की यह कल्पना आई कैसे? वज्र इन्द्र का आयुध है और अश्म तथा मणि के अर्थ में भी प्रयोग होता है किन्तु हिन्दू देवता का अस्त्र बौद्धों की कल्पना में इतना प्रधान कैसे हो गया? और क्या इसका सम्बन्ध वज्र की परम्परागत वैदिक कल्पना से भी है?

अथर्ववेद में वज्र के स्वामी इन्द्र का अर्थ, इन्द्रः, शत्रुओं का नाशक

है और उससे प्रार्थना की गई है कि 'इन्द्रः वज्रेण शीर्षाणि वृश्चतु ।' अर्थात् वह वज्र से शत्रुओं का शिरच्छेद करे।^{६३} वह शची-पति या शक्ति का पति है।^{६४} वज्र का दूसरा अर्थ मणि भी है और मणियों को अथर्ववेद में सुख, समृद्धि, रक्षा आदि का साधन बताया है।^{६५} और अभीवर्त नामक मणि का उल्लेख मिलता है जिसे धारण करने से इन्द्र दिग्विजयी हुआ था।^{६६} वज्र को अश्म भी कहते हैं और अथर्ववेद में अश्मतनु की कामना की गई है।^{६७}

वज्रयान में वज्र के इन सभी धर्मों का उल्लेख मिलता है। बोधिचर्या-वतार में बोधिसत्व को वज्री ^{६८} या वज्रधारण करने वाला बताया गया है जिसके भय से यमदूतादिक पराजित हो कर भागते हैं। तिब्बती बौद्ध-धर्म में गुरु के पास वज्र (द्वार + जे) का अस्तित्व बताया गया है जिससे भूत प्रेत पिशाचादि डर कर भागते हैं।^{६९} दूसरी ओर बौद्ध साधनाओं में वज्र का वैभवदाता मणि के रूप में भी उल्लेख मिलता है।^{७०} इनसे स्पष्ट है कि बौद्धों का वज्र मूल रूप में इन्द्र का ही वज्र है। बाद में उसे शून्यता का दार्शनिक परिधान अवश्य पहना दिया गया है पर कहीं-कहीं ऐसे उल्लेख हैं कि उसकी इन्द्र के वज्र से एकात्मकता स्पष्ट हो जाती है। एक स्थान पर वज्र को स्पष्ट त्रिदन्त बताया गया है और धर्म बुद्ध और संघ को उसकी तीन अस्थियाँ बताया गया है।^{७१} इससे इन्द्र के वज्र में और इनके वज्र के मूल रूप में किसी सन्देह का स्थान नहीं रह जाता।

इन्द्र का इतिहास देखने पर ज्ञात होता है कि पौराणिक काल में इन्द्र की ब्राह्मणों द्वारा बहुत उपेक्षा हुई है और नये अवतार पुरुषों के आगे उनका महत्व बिल्कुल लुप्त प्राय हो जाता है। उसके बाद सहस्रा प्रज्ञापारमिताओं में इन्द्र के नये रूप के दर्शन होते हैं।^{७२} संगीतियों में इन्द्र भगवान् बुद्ध के महायानी उपदेशों में श्रोता रूप में सम्मिलित होते हैं।^{७३} ज्ञात यह होता है कि ब्राह्मणों द्वारा उनकी उपेक्षा देख कर बौद्धों ने शक्र को अपनी मण्डली में सम्मिलित कर लिया है और कालान्तर में सम्भवतः गुरुदक्षिणा स्वरूप उन्होंने अपना अस्त्र बोधिसत्वों को सौंप दिया और वे उससे इतने अभिभूत हुए कि उसे शून्यता का ही प्रतिरूप मान बैठे। एक वैदिक देवता को शिष्य बनाने की भावना, अपने विरोधियों से रक्षा के लिये अमोघ अस्त्र की प्राप्ति, मणि रूप में वैभव और सिद्धियों की उपलब्धि, अश्म-रूप में अमर काया की प्राप्ति, इन सबों ने वज्र की कल्पना को इतना सर्वाच्छादनकारी बना दिया, कि पाँच ध्यानी बुद्धों के अधिष्ठाता परम दैवत् के रूप में वज्रयानी सिद्धों और चिन्तकों ने वज्रसत्त्व नामक एक छोटे बुद्ध

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

की कल्पना की जो प्रज्ञापारमिता सभी शक्ति के प्रति हैं, जिनका अन्त अर्नोवज्र है और जो युगनद्ध रूप में सदैव अपनी शक्ति से समन्वित रहते हैं।

तिब्बती अनुश्रुतियों में यह कहा गया है कि वज्रयान को यह तान्त्रिक परम्परा असंग के ही समय में प्रारम्भ हो गई थी किन्तु असंग से ले कर आचार्य धर्मकीर्ति (लगभग ६ वीं या ७ वीं शती) तक यह गुप्त रूप से वज्रयान की गुरु परम्परा से चलती रही। प्रथम बार इन पद्धतियों को रूपरेखा निवर्धित रूप देकर प्रचारित करने का श्रेय सरहपा को दिया जाता है। इसके उपरान्त सातवीं शती से दशवीं शती तक

इतने आचार्य हुए और उन्होंने इतनी प्रकार की चिन्ताएँ और पद्धतियों का प्रचार किया, इस बीच में वज्रयान का सम्पर्क भोट, चीन, जापान, गान्धार और इतने सुदूर देशों से हुआ, इतनी संस्कृतियों से हुआ, इतने नये देवी देवता शैवों, शाक्तों, वैष्णवों, बोनपा आदि से ग्रहण किये गये, इतने मन्त्र बने, बुद्ध के कुलों का इतना विकास हुआ कि वज्रयान का एक शृङ्खलाबद्ध चित्र प्रस्तुत कर सकना असंभव है। इतना स्पष्ट है कि चिन्तना, साधना, मन्त्र, देवता, तन्त्र, योग, आचार, भाषा और जीवनदर्शन इन सभी दिशाओं में बौद्ध धर्म इतना सर्वग्राही कभी नहीं रहा जितना सिद्ध-काल में। एक ओर समस्त सांसारिक बन्धनों और भवजाल से मुक्त होकर केवल अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि की साधना ही को श्रेयस्कर बताया गया है^{७४} तो दूसरी ओर शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण^{७५} आदि पटकर्मों, ६ अभिचारों का भी विस्तृत विधान है। एक ओर हठयोग और उनके चार चक्रों का विधान है तो दूसरी ओर केवल सहज मन की साधना है। एक ओर पारमितादर्शन भी मिलता है तो दूसरी ओर समस्त आचारों को त्याग कर सर्वथा उच्छृङ्खल असामाजिक अनैतिक आचारों का भी विधान मिलता है।^{७६} इसका कारण यह है कि बहुत सी प्रवृत्तियाँ महायान की चली आ रही थीं जिन्हें वज्रयानी आचार्यों ने नया रूप दे दिया था।^{७७} बहुत सी नई पद्धतियाँ उन्होंने प्रचलित की थीं और वे सबकी सब स्वीकृत होती चली गईं। अन्त में इतनी विभिन्नताओं में एकसूत्रता स्थापित करने के लिये यह तरीका अपनाया गया कि वज्रयान के अन्तर्गत कई आम्नाय मान लिये गये^{७८} और साधक को स्वतंत्रता दी गई कि वह अपनी प्रवृत्ति के अनुसार उन आम्नायों की (जिन्हें बाद में यान कहा गया) साधना करे। इसके अतिरिक्त साधकों के

मानसिक स्तर के अनुरूप इन पद्धतियों का विधान किया गया और पहले किया, फिर चर्या, फिर योग, फिर अनुत्तर की साधना का विधान किया गया। कहीं-कहीं ये सभी पद्धतियाँ एक बड़ी साधना-प्रणाली की विभिन्न अवस्थाओं में ग्रहणीय बताई गई। लगभग प्रत्येक आचार्य की प्रवृत्ति यह मालूम होती है कि वह दूसरी पद्धतियों का तिरस्कार नहीं करता है, किन्तु उसकी अपनी एक विशेष प्रिय पद्धति होती है जिसे वह दूसरों से श्रेष्ठ बताता है और यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि यह बड़ा गुह्य भेद है। अन्य पद्धतियों को तो साधारण लोग भी जान सकते हैं किन्तु यह केवल कुछ ही प्रज्ञावानों के लिये है। फिर अपनी अपनी पद्धतियों के अनुसार वे वज्रयान की व्याख्या करते हैं।^{१५} किन्तु इस विषय में लगभग सब एकमत हैं कि वज्रयान ही भवसागर से पार उतारने में समर्थ है।^{१०}

इसके पहले कि इन विभिन्न पद्धतियों के कारण वज्रयान की विभिन्न शाखाओं पर हम विचार करें, हमें यह देखना चाहिये कि वज्रयान ने परम्परागत तत्वों की क्या नई व्याख्या की या उसमें कौन से नये तत्व जोड़े।

सबसे पहले वज्रयानी आचार्यों ने शून्य को वज्र में बदल शून्य नहीं वज्र, दिया। माध्यमिकों ने जगत को शून्यता-स्वभाव का बताया निवृत्ति नहीं था। इन्होंने शून्य को नकारात्मक और रहस्यात्मक न रख प्रवृत्ति

कर उसकी वज्रपरक व्याख्या की, वज्र जो दृढ़ है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, सुखदायक है।^{१६} अतः उसकी साधना केवल नकारात्मक साधना न रह कर सक्रिय, भोगमयी, सब प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट कर चलने वाली साधना हो गई। इस प्रकार शून्य को वज्र में बदल कर इन्होंने अपने धर्म को केवल त्याग और संयम-परक न बना कर भोग और सुख से समन्वित कर दिया, निवृत्तिमूलक धर्म न रहकर वज्रयान में बौद्ध धर्म प्रवृत्तिमूलक बन गया।^{१७}

यह वज्र चूँकि शून्यता का प्रतीक है और शून्यता जगत का स्वभाव होने के नाते तथागत का भी स्वभाव है अतः तथागत भी वज्रसत्त्व हैं। वज्रसत्त्व की व्याख्या अवधूतीपा ने इस प्रकार की है कि 'वज्र के अर्थ शून्यता हैं और सत्त्व विशिष्टि-मात्रता का प्रतीक है दोनों का तादात्म्य सिद्ध होने से वज्रसत्त्व कहा जाता है।'^{१८}

चूँकि यह वज्रसत्त्व शून्यता स्वभाव का है और शून्यता ही चरम धर्म है जिसकी प्रतीक धर्मकाया थी अतः वज्रयान में धर्मकाया के स्थान पर वज्रकाया की

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

प्रतिष्ठा हुई,^{८४} और कालांतर में उसी को सहजकाया कहने लगे। तीन कायाओं से पृथक् चौथी काया के रूप में उसकी गणना होने लगी।^{८५}

इस वज्रसत्त्व तथा इसी के अनुरूप समस्त संसार की वस्तुओं का मूल स्वभाव नैरात्म्य का है। इसी नैरात्म्य को पहचान लेना ही वज्रज्ञान बताया गया है।^{८६} इसी वज्रज्ञान को प्राप्त करने के लिए साधक बोधिचित्त को उद्भूत करता है। इसी बोधिचित्त के द्वारा वह वज्रयान प्राप्त कर सकता है क्योंकि बोधिचित्त ही वज्रचित्त है या बोधिवज्र है।^{८७}

वज्रसत्त्व तथा उसको प्राप्त कराने वाले बोधिचित्त का स्वभाव पूर्ववर्ती ग्रंथों में बहुत गहन चित्रित किया गया है। वह नैरात्म्य स्वरूप है, निस्वभाव है, निरालम्ब है, प्रज्ञापारमिता रूप है, प्रकृति-शुद्ध है, अद्रव्य है, अग्राह्य है।^{८८} किन्तु वज्रयान में विशेषता यह थी कि इसे दो तत्वों के अद्रव्य के रूप में प्रधानता दी गई। पहले भी महायान में शून्य तथा करुणा दोनों ही को बोधिचित्त में परिकल्पित किया गया था, इसमें शून्य तथा करुणा को प्रज्ञा तथा उपाय के रूप में परिकल्पित किया गया।^{८९} अतः वज्रज्ञान वास्तव में प्रज्ञोपाय का ज्ञान है और उसी के जल रूपी ज्ञान से चित्त रूपी रत्न पर जमा हुआ अनादिवासना का पंक धुल जाता है।^{९०}

अपने को देवता ही समझ लेना वज्रयानी साधना में अहंकार नाम से अभिहित होता है।^{९१} इस साधना में साधक लगातार इन मन्त्रों का पाठ करता है, 'ओं सर्वतथागततात्मकोऽहम्' या 'ओं शून्यताज्ञान अहंकार वज्रस्वभावतात्मकोऽहम्'^{९२} और उसके बाद तथागत की ही भाँति आचरण करता है। जब साधक स्वतः तथागत है तो उसकी मुद्रा भी प्रज्ञापारमिता होगी।^{९३}

इस अहंकार पद्धति में मन्त्र जप के उपरान्त साधक में आवेश जाग्रत होता है जो स्वतः देवता के स्वभाव के अनुरूप होता है। उस आवेश में देवता उसके माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करने लगता है और वह उसी के अनुरूप कार्य करता है। काम क्रोध आदि अनेक आवेश 'अहंकार' पद्धति में आते हैं जिनके उपशमन के बाद साधक मण्डल में प्रवेश करता है।^{९४} इसी प्रकार कामावेश में उसका उपशमन मुद्राओं द्वारा होता है किन्तु वे मुद्राएँ प्रज्ञा की अभिव्यक्तियाँ होती हैं इसीलिए इस मुद्रायोग को 'गुह्यप्रज्ञांगसंग' भी कहा गया है।^{९५}

इस प्रकार हम देखते हैं कि वज्रयान वास्तव में तान्त्रिक पद्धति का बौद्ध संस्करण मात्र है। तन्त्रों के जिन दस सामान्य तत्वों की ओर हम संकेत कर आये हैं वे सभी वज्रयान में विकसित हो चुके थे। देह, गुरु का महत्व, मन्त्र, तन्त्र, हठयोग, जाति पांति का तिरस्कार, मैथुन तथा गुह्य साधनाएँ, सिद्धियाँ, मण्डल चक्रादि, अनुष्ठान, सभी ज्यों के त्यों वज्रयान में मिलते हैं। लिंगांग-साम-रस्य, मुक्ति की अपेक्षा सिद्धियों के प्रति आग्रह, रसरसायन आदि की कल्पना, अमर शरीर तथा गुह्याचार आदि सभी प्रवृत्तियाँ वज्रयानियों में पाई जाती हैं, किन्तु उन सबों को स्वीकृत कर बौद्ध अर्थ दे दिये गये हैं। इसमें अपनी साम्प्रदायिक विशिष्टता भी है जिस पर हम उनके सिद्धान्तों का विवेचन करते समय विचार करेंगे।

इन सभी बाह्य अनुष्ठानों से बिल्कुल ऊपर उठ कर अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि की भी साधना थी जिसका विकास सहजपद्धति में हुआ। वास्तव में ये साधनाएँ एक दूसरे की विरोधिनी न होकर पूरक मान ली गई थीं। साधकों की चित्तवृत्तियों के अनुरूप, उसके मानसिक विकास के अनुरूप साधनाओं का विधान था। कभी कभी एक साधना पद्धति तथा दूसरी साधना पद्धति एक ही प्रणाली में विभिन्न अवस्थाओं में विहित बताई जाती थीं।^{९६} कभी कभी कुछ आचार्य किसी एक विशेष देवता की प्रतिष्ठापना करते थे, फिर उसकी पूजा, उसके न्यास-विन्यास उसकी साधना, मन्त्र, यन्त्र आदि के पूरे साधन का विवरण देते थे,^{९७} और किसी एक साधना को इतना महत्वपूर्ण बताते थे कि उसके आगे अन्य सभी साधनाएँ हेय हैं। इससे यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिये कि उनका सम्प्रदाय या मत वज्रयान से अलग कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय है, जैसा बहुत से लोगों ने सहजयान या कालचक्रयान को मानने की भूल की है।^{९८} वास्तव में वे सभी साधनापद्धतियों को स्वीकार करते हैं किन्तु अपनी विशेष पद्धति को सर्वोपरि रखते हैं और उसके महत्व को प्रचारित करने के लिये अन्य सभी साधनाओं को 'उसकी तुलना में' हेय समझते हैं।

साधक की अवस्थानुसार साधना-पद्धति अपनाने की दृष्टि से चार पद्धतियाँ प्रमुख थीं और उन्हीं के नाम पर वज्रयान के चार तन्त्र हो गये। क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तर तन्त्र।^{९९} ये चारों विभाग वैष्णव-तन्त्रों, संहिताओं तथा अधिकांश तन्त्रों में निर्दिष्ट ज्ञान योग क्रिया तथा चर्यापाद के ही आधार पर बने थे।^{१००} इन्हीं तन्त्रों में कुछ की और भी प्रशंसाएँ हो गई थीं। चूँकि

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

सहज और कालचक्र दोनों पद्धतियों का विकास इसी प्रकार हुआ था और सिद्धों में दोनों का प्रतिपादन मिलता है अतः वज्रयान की शाखाओं के वर्गीकरण पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल लेनी आवश्यक है।

आचार्य अवधूतीया ने 'कुटाष्टिनिर्घातक्रम' में दो प्रकार के साधक बताए हैं शैक्ष तथा अशैक्ष (इह द्विधा सत्त्वा शैक्षाः अशैक्षाश्च)। इनमें आदि-कर्म, प्रारम्भिक क्रियाएँ तथा चर्याएँ केवल शैक्षों के लिये आवश्यक हैं क्योंकि वे अविकसित मन वाले होते हैं। अशैक्षों के लिये आदि-कर्म की विशेष आवश्यकता नहीं।^{१०१} शैक्षों को आधार के सभी नियम पालन करने पड़ते हैं किन्तु अशैक्षों को आचारगत स्वतन्त्रता प्राप्त है।^{१०२} उसी में साधक की तीन अवस्थाएँ बताई गई हैं हेत्वस्था, फलावस्था, सत्त्वार्थ-क्रियावस्था। हेतु के भी आशय, प्रयोग तथा वसित वर्ग हैं। वसित भी पंच-विध है-क्लेश, उपपत्ति, कर्म, उपाय, सत्व-परिपाक। इन विभिन्न अवस्थाओं में साधना की विभिन्न पद्धतियाँ बताई गई हैं।^{१०३} और इसी कारण वज्रयान के विभेदों को शाखाएँ न कह कर पद्धतियाँ कहना अधिक उचित होगा।

काजी दावासमदुप ने ^{१०४} वज्रयान के छः प्रमुख भेद बताये हैं—

१. क्रियातन्त्रयान
२. चर्यातन्त्रयान अथवा उपाय तन्त्रयान
३. योगतन्त्रयान

इनमें से योगतन्त्रयान के भी तीन भेद मिलते हैं ४. महायोगतन्त्रयान, ५. अनुत्तर योगतन्त्रयान तथा ६. अतियोग तन्त्रयान। इन छः भेदों का विस्तृत विवरण उन्होंने नहीं दिया है किन्तु उनके तिब्बती नामों से ज्ञात होता है कि तिब्बती बौद्ध तन्त्रों में ये छः साधना पद्धतियाँ रही होंगी। इनमें से महायोग तन्त्रयान में सम्भवतः पुरुषयान से बोधिचित्त की भावना थी, अनुत्तर में स्त्री भाव से और अतियोगतन्त्र में अद्वैत भाव से। किन्तु इसका भी कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता है।^{१०५} भारतीय बौद्ध तन्त्रों में केवल चार शाखाएँ परिगणित हैं क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र तथा अनुत्तर तन्त्र।^{१०६} इनमें से प्रथम दो तन्त्र प्रारम्भिक अवस्था के शैक्षों के लिये हैं और तृतीय तथा चतुर्थ अशैक्षों के लिये हैं।^{१०७} क्रियातन्त्र सम्भवतः उसी आदिकर्म-प्रधान पद्धति का

नाम है जिसमें प्रज्ञापारमिताओं के नियम पालन का विधान है। दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, तथा प्रज्ञा का सेवन होना चाहिये।^{१०८}

शरीर-दान के उपरान्त चर्या होती है।^{१०९} यह चर्या उपाय-प्रधान है अर्थात् बोधिचित्त में उपाय तथा करुणा जाग्रत करने के लिये है।^{११०} उसके पहले ही उसकी दीक्षा या पोषण का अनुष्ठान होता है।^{१११} इस क्रिया तथा चर्या पद्धति के माध्यम से भी साधक को सहज सिद्धि प्राप्त होती है। इस क्रिया तथा चर्या का भी उद्देश्य प्रज्ञा तथा उपाय का अद्वय ही है।^{११२} विधि, देवी, देवता, उनकी साधनाएँ, दीक्षा, अभिषेक, मण्डल, आवेश आदि क्रियाओं और चर्याओं के ही अन्तर्गत आते हैं।

योग तथा अनुत्तर उच्च स्तर की अधिक सूक्ष्म साधनाएँ थीं, जिनका अधिकार केवल ऐसे साधकों को था जो स्वभावतः निस्वभाव हो गये हों या जिन्होंने सहज स्वभाव या वज्रात्मक स्वभाव को पूर्णतया आत्मसात् कर लिया हो। ऐसे योगियों के लिये किसी भी आचार का कोई बन्धन नहीं था और यह विश्वास किया जाता था कि जिन आचारों के कारण लोक नरक-बन्धन पड़ जाता है योगी उन्हीं से सिद्धि प्राप्त करता है।^{११३}

अनुत्तर में आस्था रखने वाले सिद्ध अन्य पद्धतियों का तिरस्कार नहीं करते थे केवल वे सहज स्वभाव की साधना को लेने वाले के लिये मन्त्र तन्त्र आदि का कोई महत्व नहीं मानते थे। इसलिये वे सहज पर अधिक बल देते थे। वैसे वे सभी वज्रयानी थे और अनुत्तर सिद्धि के अतिरिक्त भी इन्हें अग्रणीत भौतिक और गुह्य सिद्धियाँ प्राप्त थीं जिनका प्रयोग वे 'जगदुद्धारणाशय' से किया करते थे।

इस प्रकार सहजयान को वज्रयान से अलग कोई शाखा मानना अथवा सहजयान को वज्रयान के अन्तर्गत कोई स्वतन्त्र शाखा मानना अथवा सहज साधना में देवता मंत्र, तन्त्र, योग मैथुन तथा अतिचारों का सहजयान अभाव मानना युक्तिसंगत नहीं है। हाँ यह अवश्य है कि सरह आदि कुछ आचार्य ऐसे हुए जिन्होंने उच्चकोटि के अनुत्तर साधकों के लिये तन्त्र मन्त्र का निषेध कर केवल सहज में भावाभाव से विनिर्मुक्त होकर महासुख की साधना का विधान किया है। किन्तु वे भी तान्त्रिक थे, वज्राचार्य थे, उनकी चिन्तना को सहजयान क्यों पुकारा गया इसका प्रमुख

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

कारण अभी तक यह बताया जाता रहा है कि उन्होंने गुह्याचारों से भिन्न केवल सहज स्वाभाविक जीवन का उपदेश किया। जहाँ तक आचार का प्रश्न है महायान स्वतः हीनयान से अधिक उदार हैं और उतने कठोर 'विनय' और संयम को नहीं स्वीकार करता इसलिये महायान के विभिन्न नामों में से चीनी बौद्ध धर्म में एक नाम सहजयान और हीनयान के लिये कठिनयान भी प्रचलित है।^{११४} इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इनका मुकाबल सहज स्वाभाविक की ओर भी था इसीलिये इन्होंने वज्रकाया को सहजकाया अथवा स्वभावकाया कहा, किन्तु चूँकि प्रज्ञोपाय साधना ही इनकी प्रमुख साधना थी अतः इन्होंने सहज का अर्थ लिया था 'जो सहगमन से उद्भूत हो' और चूँकि बिना उपाय के प्रज्ञा और बिना प्रज्ञा के उपाय बन्धन का कारण है अतः जो इन दोनों के अद्वय अनुत्तर को सिद्ध कर सामरस्य का अनुभव करता है और महासुख की प्राप्ति करता है वही सहज-सिद्ध है।^{११५} इस विषय में एक विचारणीय प्रश्न यह है कि इस मत को सहजयान नाम कब और कैसे दिया गया। जहाँ तक मैंने सामग्री देखी है वज्रयान, मन्त्रयान, तन्त्रयान आदि नामों का तो बौद्ध तान्त्रिक ग्रन्थों में प्रचुर प्रयोग है, किन्तु एक विशेष सम्प्रदाय के रूप में सहजयान नाम का प्रयोग नहीं मिलता। यदि हम चीनी साक्ष्य पर विचार करें तो वहाँ भी यह नाम महायान के लिये हीनयान की साधनापद्धति की कठोरता का विरोध दिखाने के लिये प्रयुक्त हुआ है, वज्रयान के बाद किसी नवविकसित साधनापद्धति के लिये नहीं। प्रतीत यह होता है कि विद्वानों ने सिद्धों के साहित्य में सहज का इतना अधिक प्रयोग देख कर उसे अन्य 'यानों' की तुलना में 'सहजयान' कहना उचित समझा।

स्वतः सिद्धों के दोहों या चर्यापदों में इस नाम का कहीं प्रयोग नहीं है। इन्द्रभूति, अनंगवज्र, अद्वयवज्र, आर्यदेव आदि के अब तक प्रकाशित ग्रन्थों में भी सहजयान का ऐसा प्रयोग मुझे नहीं मिला। गुह्य-समाज-तन्त्र में भी इस नाम का प्रयोग नहीं है। अद्वयवज्र ने सरहपा के दोहों की टीका करते हुए उसे 'सहजान्नाय पंजिका' नाम दिया है। यह नामकरण महत्वपूर्ण है। वास्तव में सहज एक आम्नाय या पद्धति थी जिसमें हठयोग द्वारा प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य स्थापित कर अनुत्तर ज्ञान, महासुख अनुभूति और सहज स्वभाव सिद्ध कर, महामुद्रा के साथ रहते हुए समस्त बाह्य अनुष्ठानों से मुक्त होने पर विशेष बल दिया जाता था। यद्यपि अनुष्ठानों का सर्वथा बहिष्कार नहीं था क्योंकि स्वतः महामुद्रा की साधना में हठयोग के बहुत ही सूक्ष्म और गहन मार्ग का विधान

था जिसमें कभी कभी प्रारम्भ में मण्डल-चक्र, अभिषेक आदि बाह्य अनुष्ठानों को सम्पन्न करना पड़ता था। सावना के उपरान्त समस्त अनुष्ठानों से मुक्त होने का विधान था।

चर्यापदों की टीका में एक स्थान पर सहजयान शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु वह केवल एक काव्यात्मक अभिव्यक्ति मात्र है। १४ वीं चर्या की टीका में डोम्बी रूपिणी भगवती नैरात्मा को सहजयान (सहजनौका) की खेवनहार कहा गया है।^{१२६} सहज-नौका कोई विशेष सम्प्रदाय न होकर ललना और रसना रूपी गंगा और यमुना अथवा प्रज्ञा और उपाय का वर्जन कर प्रज्ञोपाय के अद्वय-रूपी अवधूती के मध्य में स्थित शुक्र नाड़ी ही है। उसी नाड़ी के माध्यम से बोधचित्त उष्णीष कमल तक पहुँचता है अतः उसे नौका कहा गया है, जो सहजरूपिणी है। नौका रूप में कभी करुणा, कभी अवधूती का वर्णन चर्यापदों में मिलता है किन्तु इसी के आधार पर सहजयान नाम पूरे सम्प्रदाय को देना उचित नहीं कहा जा सकता। इस 'सहज' को आम्नाय या पद्धति ही मानना उचित है।

इस सहज की कल्पना का मूल उद्गम कहाँ है इसके विषय में डा० प्रबोधचन्द्र बागची का एक विचारणीय मत है। वे इस सहज को प्राचीन चीनी धर्म का प्रभाव मानते हैं और सहज को उनके मूल सिद्धान्त सहज और 'ताओ' का संस्कृत अनुवाद मात्र। वास्तव में ताओ धर्म चीनी चीनी ताओमत जनता का बहुत पुराना धर्म है जिसका मूल प्रवर्तक लाओत्से लगभग ६०० ई० पू० में हुआ था और उसका प्रमुख प्रचारक ज्वांगत्से लगभग ४०० ई० पू०।^{११७} इसमें कोई सन्देह नहीं है कि लाओत्से की ताओ भावना अपनी रूपरेखाओं में उपनिषदीय ब्रह्म से इतनी मिलती जुलती है कि बहुत दिनों तक विद्वान उस पर भारतीय प्रभाव का सूत्र ढूँढ़ने का प्रयास करते रहे।^{११८} किन्तु वह इतना पुराना धर्म है कि भारतीय चीन सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित होने के पहले ही उसका समुचित विकास हो चुका था।^{११९}

ताओमत का जीवनदर्शन वास्तव में सहज जीवन-दर्शन था। वह मनुष्य के सहज शुद्ध स्वभाव में विश्वास करते थे और उनका सहज कभी कभी तो निष्क्रिय कर्मशून्यता के स्तर तक चला जाता था। उनका मूल तत्व ताओ पूर्ण भी है और शून्य भी। वह संज्ञाहीन है, स्वभावहीन है, रूपहीन है, नैरात्म्य-रूप

बौद्ध धर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश तथा वज्रयान का विकास

है। यहाँ तक कि वह ज्ञान से भी परे है और तर्क उसे नहीं पा सकता। वह ताओ शून्य है, सर्वसत्त्वमय है और उसे समस्त संसार की जननी कहा जा सकता है, वह नारी रूप है। उसकी सृष्टि में त्रितत्त्वों का महत्व है। कहा जाता है कि प्रारम्भ में केवल शून्य था, फिर उससे एक की सृष्टि हुई, फिर एक से दो हुए, दो ने तीन का सृजन किया और तीन से समस्त संसार हुआ।^{१२०}

ताओ साधना में निष्क्रियता और उसके माध्यम से अपनी शक्ति का अपव्यय रोक कर अमरता प्राप्ति का विधान है। च्वांगत्से ने एक स्थान पर नौ वर्ष में अमरता प्राप्ति का मार्ग बताया है। च्वांगत्से ने ही एक चीनी स्त्री की कथा लिखी है जो अमर थी और जिसके रूप का कुछ भी क्षय नहीं हुआ था। उससे किसी ने पूछा कि तुम्हें यह अमरत्व का रहस्य कहाँ से मिला तो उसने कहा 'पुस्तकों से। और पुस्तकों ने इसे समवेत ज्ञान से ग्रहण किया और ज्ञान ने खोज से और खोज ने समन्वय बुद्धि से और समन्वय बुद्धि ने अभ्यास से और अभ्यास ने जिज्ञासा से और जिज्ञासा ने ज्ञानोपरि (अनुत्तर) से और ज्ञानोपरि ने महाशून्य से और महाशून्य ने ताओ से और ताओ ने अनन्त से।'।

इनकी यह शून्योद्भूत साधना इन्हें विचित्र भौतिक सिद्धियाँ भी देती थीं। सिद्ध पुरुष ठोस तत्वों में से गुजर सकता था, वह अग्नि से बिना जले गुजर सकता था, उड़ सकता था, पवन पर सवार हो सकता था और नाना रूप धारण कर सकता था।

ताओ के इस वर्णन में वास्तव में यह ज्ञात होता है कि तन्त्रों ने इस मत की बहुत समानता थी। इस मत का प्रमुख प्रचारक च्वांगत्से था और बहुत सी प्राचीन चीनी किम्बदन्तियों में ऐसी कथा मिलती है कि चीन में ताओ का उपदेश देने के बाद आचार्य च्वांगत्से भारत की ओर चले गये और शेष जीवन उन्होंने भारत में बिताया।^{१२१} च्वांगत्से का समय लगभग ४०० ई० माना जाता है, अतः संभव है ३०० वर्ष में यह सिद्धान्त विकसित होकर सहज मत के रूप में आया हो।

तान्त्रिक काल में भारत का सम्बन्ध एशियाई देशों से बहुत घनिष्ठ था और सांस्कृतिक दृष्टि से कितने ही देशों को तो एक ही समझा जाता था जिसमें मध्य तथा पूर्वी एशिया के लगभग सभी देश थे। तन्त्रों के प्रभाव में तीन क्रान्ताएँ थीं जिनमें बहुत विदेशी राष्ट्र आते थे।^{१२२} तन्त्रों के पाँच प्रमुख पीठों में से कई ऐसे पथों पर थे जो मध्यदेश को गान्धार, चीन, मंगोलिया, भोट, ब्रह्मा